तुलसी प्रज्ञा

TULSI PRAJÑĀ

Jain Vishva Bharati Institute Research Journal

जैन विश्वभारती संस्थान शोध पत्रिका

Vol. XIX ☐ Number Four ☐ Jan.-March, 1994

☐ राय अश्विनीकुमार : रत्नपालचरित में बिम्बात्मकता ☐ केशव प्रसाद गुप्त : जैन-संस्कृत वाङ्मय के ऐतिहासिक महाकाव्य ☐ कृष्णपाल त्रिपाठी : 'नाट्यदर्पण' में मौलिक चिन्तन ☐ हरिशंकर पाण्डेय : प्रश्न-व्याकरण में अहिंसा का स्वरूप ☐ शिव प्रसाद : श्वेताम्बर-परम्परा का चन्द्रकुल और उसके प्रसिद्ध आचार्य ☐ समणी चैतन्यप्रज्ञा : ध्यान-द्वात्रिंशिका में ध्यान का स्वरूप ☐ समणी सत्यप्रज्ञा : कालूयशोविलास में चित्रात्मकता ☐ समणी स्थितप्रज्ञा : आचार्यश्री महाप्रज्ञ का साधनादर्शन ☐ निर्मला चोरड़िया : 'स्थानांग' में संगीत कला के तत्त्व ☐ परमेश्वर सोलंकी : 'तुलसी प्रज्ञा' के खण्ड १८ व १९ की लेख सूची R K. Mithal : Laboratory Counselling in Distance Education Sagarmal Jain : The Solutions of World Problems from Jaina Perspective ● Sampooran Singh : 'Non-violenec of the Weak, and 'Non-violence of the Brave' ● Dashrath Singh : The Prospect of continuity of life after death in Chārvāk System of philosophy ● List of Articles, published in Tulsi Prajñā Vol, XVIII & Vol. XIX

Jain Vishva-Bharati Institute
Deemed University, Ladnun-341 306

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुलसी प्रज्ञा
TULSI PRAJÑĀ

अनुसंधान–त्रैमासिकी
Research Quarterly

JAIN VISHVA-BHARATI INSTITUTE
RESEARCH JOURNAL

Volume XIX Number Four Jan.-March, 1994

Jain Vishva-bharati Institute, (Deemed University),
Ladnun—341 306 (Raj.) INDIA

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संरक्षक
डॉ० रामजी सिंह, कुलपति

संपादक-मण्डल

डॉ० दशरथ सिंह	अहिंसा एवं शांति-शोध विभाग
डॉ० देवनारायण शर्मा	प्राकृत-भाषा एवं साहित्य विभाग
डॉ० के० कुमार	जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान विभाग
डॉ० राय अश्विनी कुमार	जैन विद्या विभाग

Patron
Dr. Ramjee Singh, Vice-chancellor

Editorial Board

Dr. Dashrath Singh	Deptt. of Non-Violence & Peace Research
Dr. Devanarayan Sharma	Deptt. of Prakrit Language and Litrature
Dr. K. Kumar	Deptt. of Jivan Vigyan & Preksha-Meditation
Dr. Rai Ashwini Kumar	Deptt. of Jainology

Note : The views expressed and the facts stated in this journal are those of the writers. It is not necessary that the editors and the Institute agree with them. The decision of the editors about the selection of manuscripts for publication shall be final.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका/Contents'

१. रतनपालचरित में बिम्बात्मकता २६३
राय अश्विनीकुमार

२. जैन-संस्कृत वाङ्मय के ऐतिहासिक महाकाव्य २७७
केशव प्रसाद गुप्त

३. नाट्यदर्पण में मौलिक चिन्तन २९१
कृष्णपाल त्रिपाठी

४. प्रश्न-व्याकरण में अहिंसा का स्वरूप ३०७
हरिशंकर पाण्डेय

५. श्वेताम्बर-परम्परा का चन्द्रकुल और उसके प्रसिद्ध आचार्य ३१९
शिव प्रसाद

६. ध्यान-द्वात्रिंशिका में ध्यान का स्वरूप ३४५
समणी चैतन्यप्रज्ञा

७. कालूयशोविलास में चित्रात्मकता ३५३
समणी सत्यप्रज्ञा

८. आचार्यश्री महाप्रज्ञ का साधनादर्शन ३६७
समणी स्थितप्रज्ञा

९. 'स्थानांग' में संगीत कला के तत्त्व ३७५
निर्मला चोरड़िया

१०. 'तुलसी प्रज्ञा' के खण्ड १८ व १९ की लेख सूची ३८९
परमेश्वर सोलंकी

English Section

11. Laboratory Counselling in Distance Education 185
R.K. Mithal

12. The Solutions of World Problems from Jaina Perspective 189
Sagarmal Jain

13. Non-violence of the Weak and Non-violence of the Brave 203
Sampooran Singh

14. The prospect of continuity of life after death in Chārvāk system of Philosophy 217
Dashrath Singh

15. List of Articles, published in Tulsi Prajñā Vol. XVIII & XIX 225
Parmeshwar Solanki

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेखक

Contributors

१. **राय अश्विनी कुमार**—	आचार्य एवं अध्यक्ष, जैन विद्या विभाग, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं ।
२. **डॉ० केशवप्रसाद गुप्त**—	गांव-चरवा (इलाहादाद)-२१२२०३
३. **डॉ० कृष्णपाल त्रिपाठी**—	गांव-वलीपुरटाटा (इलाहाबाद) —२१२२०३
४. **डॉ० हरिशंकर पांडेय**—	व्याख्याता, प्राकृत-विभाग, जैन विश्व-भारती संस्थान, लाडनूं ।
५. **श्री शिव प्रसाद**—	रीसर्च एसोसिएट, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, वाराणसी
६. **समणी चैतन्य प्रज्ञा**—	व्याख्याता, जैन विद्या विभाग, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं
७. **समणी सत्यप्रज्ञा**—	व्याख्याता, अहिंसा शांति-शोध विभाग जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं
८. **समणी स्थितप्रज्ञा**—	व्याख्याता, जीवन-विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान विभाग, जैन विश्व-भारती संस्थान, लाडनूं
९. **सुश्री निर्मला चोरड़िया**—	शोध-छात्रा, प्राकृत विभाग, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं
१०. **डॉ परमेश्वर सोलंकी**—	'तुलसी प्रज्ञा', लाडनूं
11. *Dr. R.K. Mithal*—	Coordinator, Distance Education, J.V.B. Institute, Ladnun
12. *Dr. Sagarmal Jain*—	Director, Parshvanath Research Institute, Varanasi-5
13. *Dr. Sampooran Singh*—	House No. 586, Sector 10-D Chandigarh-160011
14. *Dr, Dashrath Singh*—	Professor & Head, Dept. of Non-Violence and Peace Research, JVBI, Ladnun.
15. *Dr. Parmeshwar Solanki*—	Tulsi Prajna, Ladnun.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रत्नपालचरित में बिम्बात्मकता

☐ राय अश्विनी कुमार
☐ हरिशंकर पाण्डेय

कवि के विराट् हृदयाकाश से अनुभूतिगत शब्द, कल्पना, भावना रमणीयता आदि का साहचर्य प्राप्त कर प्राणों के तरंगों पर बैठकर बाहर उच्छलित होते हैं, उन्हीं शब्दों को संसार में काव्य कहा जाता है, जिसमें सत्य और शिव सुन्दर के रूप में उपस्थित होते हैं। हेय और उपेक्ष्य का सर्वथा तिरोहण हो जाता है, केवल आस्वाद्य ही शेष रहता है।

संसार के सम्पूर्ण साहित्य में काव्य का महनीय स्थान है और कवि उदात्त एवं भव्यता के रामणीक स्थल में प्रतिष्ठित रहता है। संसार में कवि शब्द को धारण करने वाले अनन्त मिलते हैं, लेकिन कवि के अन्वर्थ को अपने व्यक्तित्व में संघटित करनेवाले विरले ही होते हैं। समाधि, साधना, शास्त्राभ्यास, गुरु-सन्निधि और पूर्व संस्कारवशात् कभी-कभी कोई पुरुषार्थी मधुमय-निकेतन में पहुंच जाता है। जिनके जीवन में स्वपर के भाव सर्वथा समाप्त हो जाते हैं और जो आत्म प्रदेश गमन समर्थ हो जाते हैं वे ही कवि कहलाते हैं, तब वाल्मीकि की तरह रामायण का, व्यास की तरह महाभारत का, कालिदास की तरह शकुन्तला का और भवभूति की तरह उत्तरराम-चरित का संगायक पैदा होता है। जिसके संगीत में जीव-जगत् की शाश्वत स्वर लहरियां अनन्तकाल तक अनुगूंजित होती हैं।

विवेच्य महाकवि-महाप्रज्ञ तेरापन्थ धर्मसंघ का दशम आचार्य भी इसी उदात्त परम्परा के एक महार्ध्य मणि हैं। जिसकी यात्रा प्रारम्भ होती है घनान्धकार से लेकिन नित्य नवीनता को प्राप्त कर वे वहां पहुंच गए हैं जहां शैत्य-पावनत्व-विशिष्ट प्रकाश-सम्पन्न चिन्मयदीप ही अवशिष्ट रहता है। ये सिद्ध सारस्वत और वाणी के निपुण-लास्य में चतुर तो हैं ही, साधना और समाधि के दुर्गम-प्रदेशों में स्वच्छन्द गमन समर्थ यात्री भी हैं। यह महाकवि के लिए आवश्यक भी है कि शास्त्रीय अक्षरों के साथ पूर्णाक्षर की साधना हो। इस कला में हमारा महाकवि पूर्णतया निपुण है।

ऐसे हृदय से निःसृत नैसर्गिक शब्द बाहर आते ही श्रोता संसार में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्णनीय का सफल रूपायण करते हैं। वे रूप इतने स्पष्ट होते हैं कि मन और हृदय पर एक साथ अधिकार कर लेते हैं, आलोचना संसार में उन्हें ही रूप, बिम्ब या चित्र कहते हैं।

चित्रात्मकता या बिम्बात्मकता काव्य का प्राण है। कविता की सफलता इसी पर निर्भर करती है कि काव्यगत शब्द श्रोता, रसिक एवं घइल्ल के मानस पटल पर वर्णनीय का कितना स्पष्ट अंकन करते हैं।

प्रथमतः कवि अपनी अनुभूति में बाह्य-संसार को लाता है, संस्कार-गत करता है तथा कल्पना एवं अभिव्यंजना का परिवेश पहनाकर पुनः बाहर कर देता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञ विरचित रत्नपालचरित्त में बिम्बात्मकता या चित्रात्मकता की विचारणा अवधेय है। रत्नपालचरित्त में शक्रपुर के राजा रत्नपाल की कथा पांच सर्गों में (२२४ श्लोक) विन्यस्त है। इसमें चरित्तकाव्यगत-गुणों का रम्य-उपस्थापन हुआ है। यह काव्य अप्रकाशित है, शीघ्र प्रकाशन का प्रयास चल रहा है।

विवेच्य काव्य में प्राप्त बिम्बों का स्रोतों के आधार पर वर्गीकरण कर विवेचित करने का प्रयास किया गया है—

- मानवीय बिम्ब
- पशु जगत् के बिम्ब
- प्राकृतिक बिम्ब
- कलागत बिम्ब

० **मानवीय बिम्ब**—रत्नपालचरित में अनेक ऐसे सुन्दर बिम्बों का उपन्यास हुआ है, जिनका स्रोत मानव-समाज है। इस प्रसंग में राजा रत्नपाल, अनिन्द्य-सुन्दरी-कुमारी-रत्नवती, मंत्री एवं मुनि के बिम्बों का विवेचन किया जा रहा है—

१. राजा-रत्नपाल—यह विवेच्य-रत्नपालचरित्त काव्य का नायक है। इसके अनेक रूपों का बिम्बन हुआ है। रूपगुण सम्पन्न बालक, युवक, अहंकारी, जिज्ञासु, भ्रमणशील, आश्चर्यित, और अन्तिम में महाव्रतों के धारक मुनि के रूप में दृष्ट होता है।

(क) बालक—अपूर्व लक्ष्मी-शोभा सम्पन्न, दक्षिण-भारत के शक्रपुर नगर के नीतिज्ञ-नृपति चन्द्रकीर्ति के घर में ऐसे बालक का जन्म हुआ जो अद्भुत रूप सम्पन्न था। वह इतना प्रिय-दर्शन था कि स्त्रियां एक क्षण भी उसे अपने गोद से अलग नहीं करना चाहती थी—

खेलायितुं तं ललना सलील-
मन्योन्यमाद्याति प्रतिक्षणं तत्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्ष सिद्धो भवतीति मन्ये,
पर्यायवादोऽर्हदुपासकानाम् ।।[1]

(क) मेधावी—बालक रत्नपाल इतना प्रतिभा सम्पन्न था कि गुरु गृह में जाकर अल्पकाल में ही विविध विद्याओं में निष्णात बन गया, मानो पूर्व जन्म से सभी विद्याओं को वह जानता हो। उत्प्रेक्षा के माध्यम से इस रूप का रमणीय बिम्बनद्रष्टव्य है—

लालायमानो ललितान्नपानैः,
सद्यः क्रमेणाध्ययने प्रवृत्तः ।
अध्यैतविद्यामनवद्यरूपां,
प्राक्शिक्षितान्तर्गतपाठवद् द्राक् ।।[2]

(ग) युवक—रत्नपाल का जैसा बाल्यकाल सुन्दर था वैसी जवानी भी। उसके युवावस्था के आगमन को जानकर राजा ने गुण-शील-लक्षण सम्पन्ना, कोशलराज की पुत्री सुकोशा के साथ उसका पाणिग्रहण संस्कार कर दिया। इस अवसर का बिम्बन मात्र एक श्लोक में कवि महाप्रज्ञ ने किया है—

वयो द्वितीयं स इयाय तर्हि,
सुकोशया कोशलराजपुत्र्या ।
सत्रा विवाहो विहितोऽथ पित्रा,
नोल्लंघ्यते यद् महताधिकारः ।।[3]

(घ) अन्याय-विनाशक—विवेच्य चरितकाव्य में नायक का दर्शन अन्याय-विनाशक और स्वाभिमानी राजा के रूप में होता है। सूर्य के साथ स्पर्धा के भाव से युक्त होकर राजा अपनी राज्यसभा में उपस्थित होता है—

अन्यायवृत्रप्रतिघाततो न
विवस्वतो न्यूनपदं नयामि ।
स्पर्धिष्णुरेवं वमलञ्चकार,
श्री रत्नपालो नृपतिः समज्याम् ।।[4]

(ङ) भ्रमणशील—'सूर्य क्यों परिक्रमा कर रहा है ?'[5] इस शंका के समाधान में एक सभासद द्वारा यह कहे जाने पर कि 'प्रदेशभ्रमण विना ख्याति की प्राप्ति नहीं होती है, इसलिए सूर्य परिक्रमा कर रहा है'[6] राजा देशाटन के लिए निकल जाता है। मार्ग में वृक्ष ही उसके लिए प्रसाद बने। पंक्षियों के शब्द ही मंगल पाठकों के शब्द थे—!

सौधंद्रुमाः पत्त्रमिहाऽऽतपत्त्रं,
सिंहासनं भूमितलं पवित्रम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतत्त्रिपत्राणि च चामराणि,
रुतं खगानां खलु बन्दिबोधः ।।

(च) पराक्रमी—उसके शारीरिक पराक्रम और हस्ति-शिक्षा नैपुण्य का दर्शन तब होता है जब वह एक उन्मत्त हाथी को वैसे ही स्तंभित कर देता है जैसे कोई तत्वविद् अपने वादी को स्तम्भित कर देता है—

इतश्चदन्ति प्रवरेण शुण्डा-
दण्डं समुत्पाटयतोपयातम् ।
तदेभशिक्षा प्रवरेण राज्ञा,
सस्तम्भितस्तत्त्वविदेव वादी ।।[८]

(छ) पृथिवीपति—दिव्य-युवति उसके गले में माला डालकर स्तुति करती है। स्तुति में राजा के विभिन्न गुणों पर प्रकाश डाला गया है। शत्रु-रूपी अन्धकार का विनाशक, जगत् के लिए अगम्य गति, रम्यमति, पुण्यकमल का सरोवर, वांछाकल्पतरु, कवियों द्वारा स्तुत्य, पृथिवीपति, नवमंगल का कर्त्ता, शत्रु-समूह को कम्पित करने वाले तथा जगदोद्धारक आदि का रमणीय रूपांकन हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

जय जय वीर ! किरीटमणे !
जय जय दस्युतमोऽभ्रमणे ।
जय जय जगताऽगम्यगते !
जय जय सततं रम्यमते ।।
जय जय सुकृतम्भोजसरो !
जय जय वांधितकल्पतरो !
जय जय कविभर्गीतनुते !
जय जय सकल धराधिपते ।।[९]

(ज) आश्चर्यित—अचानक अचिन्त्य की प्राप्ति होने पर व्यक्ति का आश्चर्यित होना स्वाभाविक ही है। अनिन्द्य सुन्दरी के द्वारा गले में माला डाला जाना तथा स्तुति कर मुस्कराते हुए प्रकट होना किस जीवित-हृदय में आश्चर्य पैदा नहीं करता ? राजा की भी यही स्थिति है। वह आश्चर्य-रस की चोटी पर पहुंच गया—

वाणीमिमां प्रेम रसानुकूलां,
श्रुत्वाश्रितश्चित्ररसस्य चूलां ।
सहाङ्कुरां तद्हृदयोर्वरां स,
तत्प्रश्नवर्षेण चकारचारु ।।[१०]

(झ) निर्लोभी—वही राजा अपने धर्म-पालन में समर्थ हो सकता है, जो सर्वथा लोभ रहित हो। राजा रत्नपाल इस गुण से युक्त था। युवति के द्वारा अपनी कथा सुनाने के क्रम में यह बताए जाने पर कि 'मेरे पिता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और राज्य को शत्रु ने जीत लिया है,' वह अपने आत्मबल और अतिशायी विद्याबल के प्रभाव से उस राज्य को जीतकर युवति के पिता को सहर्ष दे देता है। इस अलभ्य चरित्र का रमणीय रूपांकन महाकवि के व्यक्तित्व के अनुरूप है। उदाहरण—

विद्याबलादात्मबलातिरेकाद्,
विजित्य तं राज्यमथो ददेऽस्मै।
नैवोत्तमा लोभलवं स्पृशन्ति,
यतो न लोभात् परमस्ति पापम्॥[११]

(अ) जातिस्मृति ज्ञान से परिपूर्ण—राजा रत्नपाल संसार की लोभ-रूपता को विचारकर रात्री-शयन करता है। क्या मैं सदा एक रूप हूं अथवा विविध रूपावाला? इस प्रकार निरन्तर वितर्कणा करने पर उसे मतिज्ञान का प्रकृष्ट रूप जाति-स्मृति ज्ञान प्राप्त हुआ—

तत्राहमेवापि किमेकरूप,
एवाऽभवं वा विविधात्मरूपः।
वितर्कयन्नित्यविराममेष,
जातिस्मृतिं प्राप मतिं प्रकृष्टाम्॥[१२]

(ट) पूर्वजन्म का बिम्ब—जातिस्मृति ज्ञान के बाद उसे अपने पूर्व भव की स्मृति आ जाती है। पूर्वजन्म में वह एक दरिद्र ब्राह्मण था। मुनि-दर्शन से भावित हुआ। महामंत्र के प्रभाव से इस जन्म में राजा के रूप में उत्पन्न हुआ—

मन्त्रस्य सोऽयं महिवाऽवगम्यो,
जातः स एवाहमिलेश सूनुः।
श्रद्धानुरूपा मनुजस्य जाति-
स्तच्छ्रद्धया पावनया हि भाव्यम्॥[१३]

(ठ) अनिश्चित पथ का यात्री—चतुर्थ सर्ग में रात्री के साथ वार्तालाप करते हुए राजा का दर्शन होता है। वह रात्री के अन्धकार रूप को कोशता है, परन्तु रात्री तर्क सम्मत उत्तर देती है। रात्री के ये पद कि—आश्चर्य! मनुष्य कितना अविवेकी है, मेरे अन्धकार को दीप जलाकर दूर करना चाहता है, लेकिन अपने मन के अन्धकार को मिटाना नहीं चाहता; सुनकर राजा संसार से निर्वेद को प्राप्त करता है अनन्त-पथ की ओर प्रस्थान कर जाता है, क्योंकि विरक्त व्यक्तियों का यही शुभक्रम होता है—

चकितविस्मितचित्त इलापति,
स्तत इयाय पथाऽव्यवसायिना।
विरतचेतसः एष शुभः क्रमो,
न पवनो नियतं व्रजति क्वचित्॥[१४]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ङ) मुनि (महाव्रती)—संसार की मोहान्धकारता एवं दुःखरूपता से खिन्न होकर राजा रत्नपाल राजर्षि रत्नपाल बन गया। उसकी प्रियतमा उसे वन-वन खोजती चलती है। किस वृक्ष से उसका पता नहीं पूछती? अन्त में निराश होकर गिरती है। मोहभङ्ग होता है तो एक मुनि का दर्शन होता है—वही मुनि उसका पूर्व प्रियतम था, अब वास्तविक प्रियतम था। यहां मुनि का दर्शन उपदेशक के रूप में होता है। रत्नवती के सामने संसार की दुःखरूपता को प्रतिपादित करते हुए मुनि रत्नपाल का बिम्ब रमणीय बन पड़ा है—

यत्साम्राज्यं मद्दृशि प्राज्यमासीत्,
तद्दुखानां खानिरद्यावभाति।
योऽसौ पन्थादुर्घटश्चेत्यतर्कि,
तत्सारल्यं साम्प्रतं चावलोके ॥[१५]

मंत्री-कृत स्तुति में स्थान, पान और स्नान के विषय में परम संतुष्ट मुनि का सुन्दर बिम्ब दृश्य है—

लालसया वेष्टित आत्मासीत्,
परितो वल्लर्येव पुलाकी।
संतोषं भज सद्य स एव,
स्थाने पाने सिचि चाप्यतुलम् ॥[१६]

अन्त में अपनी आत्मा में पूर्णतया स्थित मुनि रत्नपाल का दर्शन होता है—

स्वात्मानं विशदीकरोति,
सततं राजर्षिरप्यात्मना ॥[१७]

२. **राजकुमारी**—श्रीपत्तनपुर के राजाधिराज की कन्या इस चरित्त-काव्य की नायिका है। उसके अनेक रूपों का सुन्दर-बिम्बन विवेच्य चरित-काव्य में हुआ है—

(क) *आसक्ता*—प्रथम सर्ग में उसका दर्शन एक उन्नत-यौवना एवं रत्नपाल-आसक्ता के रूप में होता है। जो दिव्य-युवति रत्नपाल के गले में माला डालकर उसकी स्तुति करती है वह कुमारी रत्नवती ही है।[१८]

(ख) द्वितीय-सर्ग में स्मिताननना बाला का कमनीय रूप चर्व्य है—

स्मिताननना कर्णितपूर्ववार्ते
वारब्ध कश्चिद् वचनाभिलापम् ॥[१९]

इसके बाद कुमार से वह अपनी दर्द-कथा सुनाती है। उसके मामा ने ही उसके पिता को हराकर, राज्य छीनकर, अधिकार कर लिया है। इस प्रसंग का कारुणिक चित्रण करते हुए राजकुमारी का बिम्ब अत्यन्त हार्द बन गया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तद् राज्यमादायि ममैव मातृ-
सहोदरेण स्वबलावलेपात् ।
हा ! हा ! कियन्तो न भवन्त्यनर्था,
मह्यर्थमेवं महिजानिमुख्य ! ॥[२०]

(ग) चतुर्थ अंक में विरहव्यथिता के रूप में उसका दर्शन होता है। राजा रत्नपाल का वियोग उसके लिए असह्य हो चुका है। वह प्रकृति के प्रत्येक पदार्थों से अपने प्रियतम का पता पूछती है – अरे भाई ! सुनो ! मेरे प्रिय के बारे में बता दो तो ! कान्तार को उलाहना देती हुई कुमारी का बिम्ब रमणीय बना है—कान्तार ! तुमने ही मेरे प्रियतम को छिपाया है—

विविधैर्वृक्षैर्वृतकान्तार !
किं न ज्ञापयसे विश्वेशम् ।
प्रच्छन्नं त्वयि केवलबोध-
मिव बद्धात्मास्वस्मिल्लीनम् ॥[२१]

सहकार से अपने प्रियतम के अन्वेषण में सहायक होने की कामना करती है। सहकार ! तुम्हारे योग से कोयल अपनी मधुर ध्वनि को प्राप्त कर लेती है, तो क्या मैं अपने पति को भी नहीं पासकूंगी ?—

सहकार ! त्वं भव सहकारी,
कामितनिष्पत्तौ सम्पन्नः ।
कलरवमासादयति त्वतः
पिको न किं पतिमपि लप्स्येऽहम् ॥[२२]

कोमलाङ्गी राजसुता प्रियतम-विरह में भूमिपर शयन करती है जैसे यक्षिणी और पार्वती स्थण्डिल-शयन करती हैं। भूमि पर सोई हुई राजसुता का बिम्ब द्रष्टव्य है—

राजसुता सुकुमारशरीरा,
या मृदुतल्पे शयिता नित्यम् ।
सा विपिने कठिने भूभागे,
सम्प्रति रागःकिं नहि जनयेत् ॥[२३]

विरहिणियों की सभी अवस्थाएं इस कुमारी कन्या में संगठित होती हुई दिखाई पड़ रही हैं। विरह में स्वप्नदर्शन, पूर्वकृतस्मरण, चित्रदर्शन, प्रिय स्पृष्ट वस्तु का स्पर्श आदि मनोविनोद के प्रमुख साधन होते हैं। स्वप्न में आते हुए अपने प्रियतम को देखकर प्रफुल्लित मन से जग जाती है। कहां प्रियतम ? अब केवल विमूढावस्था ही शेष रहती है। इस रूप का वर्णन रोचक शैली में किया गया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निद्राभङ्गो नयनस्फारः
कोऽपि न मणिपालस्या सारः ।
स्फुटितो द्रुतमाशाकासारः,
परितोऽसुख जीवन संचारः ।।[१४]

(घ) स्वप्नदर्शन के बाद प्रत्यक्ष जगत् में मणिपाल को न पाकर उसका मोह-भंग हो जाता है । वह संसार की मोहरूपता से निर्वेद को प्राप्त होती है—

हा स्नेहेन भ्रान्ताभ्रान्ति
श्रितवत्यहमह मोहविलसितम् ।
जडतां सुधियोप्यश्नुवतेतः,
कास्तु जडानां गतिस्तदानीम् ।।[१५]

(ङ) संसार से संविग्न मन वाली होकर वह नगर की ओर लौटती है, रास्ते में एक मुनि (रत्नपाल) का दर्शन होता है । उपदेश सुनकर भव्यत्व को प्राप्त करती है । व्याप्ति-प्रेम की कामना करती है—

कुसुमसुरभिसब्रह्मास्नेहः
कादाचित्कत्वाद् व्यभिचारी ।
अस्योदाहरणं स्ताद् व्याप्ति,
धूमो नो ज्वलनं व्यभिचरति ।।[१६]

(च) उसका अन्तिम दर्शन अखण्ड कुमारी के रूप में होता है । राजर्षि के पास दीक्षा स्वीकार कर रत्नवती साध्वी बन गई । खोजने चली थी मरणशील पति को पागई अनन्त-स्वामी को । यह दृश्य दर्शनीय है—

स्वीकृत्य दीक्षां महिपर्षि पार्श्वे,
साध्वी समेता मुनिता धनाढ्या ।
तेनाऽध्वानासौ विजहार येन,
पतिं पुरान्वेष्टमथो जगाम ।।[२७]

साध्वी रत्नवती के लिए अब सब कुछ भव्य हो गया । पूर्वकृत्यों की आलोचना कर वह साध्वी साधुत्व में अधिक रक्त हो गई ।

३. मंत्री—रत्नपालचरित में मन्त्री-चरित्र का सुन्दर बिम्बन हुआ है । प्रथमतः तृतीयसर्ग में राजा की पर्युपासना में संलग्न दिखाई पड़ता है और अन्त में मुनि दीक्षा ग्रहण करता है । मंत्री राजा का अनुगामी होता है । वह भी अपने स्वामी से तत्सदृश साधुता की याचना करता है—

यमिवरास्म्यनुगस्तव शाश्वतम्,
किमु न तन्मुनितामहमाद्रिये ।
दिनकरानुगतो दिवसो विज्ञां
दिनकरस्य न किं श्रयते स्वयम् ।।[२८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार रत्नपाल चरित्त में मानवीय जगत् से संग्रहित बिम्बों का सफल चित्रण हुआ है ।

० **पशुजगत्**—विवेच्य काव्य में अनेक स्थलों पर पशुजगत् से बिम्बों का ग्रहण किया गया है । इस श्रेणी के बिम्बों की संख्या अत्यल्प है ।—

कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

देशाटन पर निकले हुए राजा रत्नपाल के लिए वन्य पशु ही सुहृद् वर्ग बनकर मनोरंजन कर रहे हैं—

सखाय एते पशवो विनोदं,
तन्वन्ति वैचित्र्युपदर्शनेन ।
राज्याद् बिना वाहनमत्र किं मे,
न्यूनं स्थितोऽत्रेति विवेक्ति तावत् ।।[२९]

मदोन्मत्त हाथी का बिम्ब दर्शनीय है—

वितर्कपूर्वं नृपतिः स एव,
ददर्श कञ्चित् करिणामधीशम् ।
दानप्रदानान्मुदितैर्द्विरेफैः,
संसेवितं दैवतवद्धनाशैः ।।[३०]

० **प्राकृतिक बिम्ब**—रत्नपालचरित का कवि प्रकृति-चारूता दर्शन में कुशल है । प्रकृति का मानवीयकरण कवि के विराट् व्यक्तित्व का परिचायक है । प्रकृति का प्रत्येक कण मानव जीवन के अभ्युदय सिद्धि में सहायक है—इसका सुन्दर निदर्शन विवेच्य काव्य में प्राप्त होता है ।

प्राकृतिक बिम्बों को चार श्रेणियों में रखकर विवेचित किया जा रहा है—

(क) समय—इस उपविभाग के अन्तर्गत प्रातः, सन्ध्या, रात्री आदि बिम्बों का उपन्यास किया गया है—

सूर्योदय—सूर्योदय के रमणीय वर्णन से ही काव्यारम्भ होता है । प्राचीक्षितिज पर उदित सूर्य की प्रथम किरणें किसके लिए मनोहर नहीं होती है ?—

अथांशुमाली लसदंशुमाला-
समाकुलः पूर्वशिलोच्चयस्य ।
चूलां ललम्बे तमसः शमाय,
सन्तो निसर्गादुपकारिणो यत् ।[३१]

रात्री—विवेच्य काव्य में रात्री का मनोरम वर्णन विन्यस्त है । रात्री का मानवीकरण महाप्रज्ञ की महीयसी-प्रतिभा का चूड़ान्त निदर्शन है । रात्री का प्रथम दर्शन एक लज्जावती स्त्री के रूप में होता है । राजा के द्वारा यह कहे जाने पर कि तुम्हारा संसार में आना पाप का कारण है । तो वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लज्जावश अपने मुख को अन्धकार रूपी वस्त्र से ढक लेती है—

इति निशम्य बभूव विभावरी,
प्रणयगर्भ वचोमृत निर्झरा ।
वृतमुखी तिमिराम्बरतस्त्रपाऽ-
नुपमस्ति धनं महिलाश्रितम् ।।[३२]

रात्री मार्मिक शब्दों में राजा को प्रतिबोध देती है—मनुष्य अविवेकी होते हैं । वे रहस्य नहीं जानते हैं । मेरे अन्धकार को दीप जलाकर दूर करना चाहते हैं, किन्तु अपने मन के अन्धकार को मिटाना नहीं चाहते हैं—

परमहो ! मनुजा अविवेकिनो,
नहि भवन्ति रहस्यविदः क्वचित् ।
अपचिकीर्षव एव तमो मम,
गृहमणे निचयान्मनसो न च ।।[३३]

चतुर्थ सर्ग में रात्री का सामान्य (स्वाभाविक) वर्णन उपलब्ध होता है, सम्पूर्ण पृथ्वी अंधकार से व्याप्त हो गयी है, वृक्ष पक्षियों से आकीर्ण हो गए हैं तथा प्राणीजगत् गहरी नींद का आश्रय प्राप्त कर चुका है—

तमसाच्छन्ना वसुधापटली,
विहगाकीर्णा पादपपंक्तिः ।
सातङ्का जनमानसवीथी,
सास्वापाभूल्लोचनमाला ।।[३४]

(ख) वनस्पति जगत्—इस उपवर्ग में पुष्प वृक्ष, अरण्यादि का बिम्ब प्रस्तुत किया जा रहा है । रत्नवती प्रिय-वियोग को प्राप्त कर अरण्य के प्रत्येक वृक्ष से अपने हृदयेश का पता पूछती है । सहकार, अशोक, शेफाली, कंटकी, केतकी, हरिचन्दन, गोशीर्ष, तालवृक्ष आदि का बिम्ब रम्य बना है ।

रत्नवती अशोक से कहती है—तुम्हारा नाम अशोक है तुम मुझे क्यों नहीं अशोका (शोकरहिता) बना रहे हो—

नाशोकां कुरुषे किमशोक !
मां च सशोकां प्रियविरहेण ।
लज्जास्पदमपि भविता सद्यो,
नाम तवेदं गुणशून्यत्वात् ।।[३५]

शेफाली का सुन्दर बिम्ब द्रष्टव्य है—

शेफाली ! त्वं रात्रावेव,
पुष्पप्रकरपतनमिषतो हि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाष्पं क्षरसि च पश्य तदाऽहं,
रात्रि दिवमपि सदृशीकुर्वे ।।[३६]

सूर्यमुखी पुष्प की रम्यता किसे आह्लादित नहीं करती ? रत्नवती कहती है—तुम सदा सूर्य की ओर अभिमुख रहते हो। कही मेरे समान तुम्हारा घूमना भी व्यर्थ न हो जाए। क्या सूर्य तुमसे प्रेम करता है—

सूर्यविकाशिन्नंशुमतो नु
मुखमाधत्सेऽत्रारेकोडम्।
किञ्च ममेव भ्रमणं व्यर्थं
स्नेहं धत्ते त्वचि वैषोऽपि ।।[३७]

जब रत्नवती अनन्त-पति (मोक्ष) के अन्वेषण के लिए मुड़ जाती है, तब सम्पूर्ण प्रकृति जगत् उसके लिए भव्य बन जाता है। पांचवे सर्ग में प्रकृति का सुन्दर रूप उपलब्ध होता है। लता के मानवीकरण का बिम्ब द्रष्टव्य है—स्वयमेव लता कुमारी से कहती है—

किसलयानि दलानि ममाभवन्,
परिमलोच्छ्वसितानि सुमान्यपि।
कलिकया सुषमा शिखरं गता,
फलललाम तया लतिता गति ।।[३८]

अन्य—भ्रमर के स्वभाव का सुन्दर उद्घाटन हुआ है—

भ्रमर ! रे निपुणोसि कुतोऽर्जिता,
मतिरियं परमार्थं पराङ्मुखा।
भ्रमसि पद्मरतो दिवसे भृशं,
कुमुद मा व्रजसि क्षणदाक्षणे ।।[३९]

वायु—वायु अवस्थानुसार स्वरूप धारण करता है। सूर्य के तपने से गर्म, पानी वरसने पर ठंडा, परिमल से सुगंधित और दुर्गन्ध से दुर्गन्धित हो जाता है। इस आशय का प्रतिपादक बिम्ब द्रष्टव्य है—

तपसि यत्तपने तपति द्रुतं,
भवसि वर्षति वारिणि शीतलः।
परिमलाकुल एव सुगन्धिमां-
स्तदितरो पि च तस्य विपर्ययात् ।।[४०]

तालाब—सरोवर का मानवी कृत रूप आह्लाद्य बना है। राजा को अपने पास आते देखकर वह प्रसन्नता से ऊंचा उछलने लगा—

अहो ! नृपालः स्वयमद्य पालि-
मलंकरोत्यंह्रिरजः कणैर्मे।
इत्युत्कटादुच्छलति स्म मोदात्,
चलत्तरंगच्छलतः स उच्चैः ।।[४१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृथ्वी—तृतीय सर्ग में राजा के साथ वार्तालाप करती हुई पृथ्वी का दर्शन होता है। वार्ताक्रम में उसके सहनशीलता, क्षमारूपता और वात्सल्यता आदि महनीय गुणों का उद्घाटन होता है। जो दया दाक्षिण्य, करुणा आदि गुणों से युक्त नहीं होता है, वह पृथ्वी का स्वामी नहीं हो सकता है। स्वयं पृथ्वी के शब्द ही प्रमाण हैं—

न दयते मम संततिमेव यन्,
न तनुते च परोपकृतिं क्वचित्।
सृजति कामपि नैव विशेषताम्,
भवति फल्गु ममेश्वरनामभृत्॥[४२]

पर्वत—मेरुपर्वत का सुन्दर वर्णन किया गया है। जम्बूद्वीप के मध्य में अवस्थित तथा देवों से आकीर्ण मेरुपर्वत औषधियों से पूर्ण हिमालय की तरह सुशोभित हो रहा है—

मध्ये स्थितो राजति तस्य मेरुः,
सुधर्मसंसत्स्विव वज्रपाणिः।
समाश्रितः स्वर्गसदां समूहै-
र्यथौषधानां निकटैर्हिमाद्रिः॥[४३]

कलागत बिम्ब—महाकवि महाप्रज्ञ कलागत बिम्बों के निर्माण में कुशल हैं। रत्नपालचरित में रस, गुण, अलंकार, रीति, छंद और सूक्ति—सौन्दर्य हृद्य बना है। वीर, शृंगार, अद्भुत आदि प्रमुख रस शान्तरस के उपकारक के रूप में उपस्थित हुए हैं, लेकिन सबकी परिणति शान्त में ही होती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

१. वीररस—पाद टिप्पण १४ देखें।

२. शृंगार रस—चतुर्थ सर्ग में वियोग शृंगार का विस्तृत वर्णन विन्यस्त है। विरहिणी की विभिन्न अवस्थाओं का सुन्दर निरूपण हुआ है। द्रष्टव्य ४.१-१९ श्लोक तक। विरहिणी की विभिन्न अवस्थाओं में भूमिशयन ४.२५, स्वप्नदर्शन ४.२६, उन्निद्रा ४.२७, आशाभंग ४.२८, विमूढ़ावस्था ४.२८, भ्रान्ति ४.२९,३० आदि का चित्रण हुआ है।

अलंकारों में अर्थान्तरन्यास का प्रभूत प्रयोग हुआ है (२.३, २३, ३२, ४६, ३.४ आदि द्रष्टव्य हैं)। व्यतिरेक २.३९, काव्यलिंग २.१५, रूपक २.५, उपमा २.३, २.१८, २.२५, उदात्त ३.२४ आदि का बिम्ब अत्यधिक सुन्दर बना है।

इस प्रकार रत्नपालचरित काव्यबिम्ब की दृष्टि में पूर्णतया सफल-काव्य है।

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ सूची

१. आचार्यश्री महाप्रज्ञ कृत-रत्नपालचरित (अप्रकाशित कृति) ३.२२
२. तत्रैव ३.२३
३. तत्रैव ३.२५
४. तत्रैव १.२
५. तत्रैव १.५
६. तत्रैव १.१०
७. तत्रैव १.१४
८. तत्रैव १.१९
९. तत्रैव १.२२-२३
१०. तत्रैव २.५
११. तत्रैव २.३०
१२. तत्रैव २.३२
१३. तत्रैव २.५५
१४. तत्रैव ३.१०
१५. तत्रैव ४.३६
१६. तत्रैव ५.१६
१७. तत्रैव ५.४८
१८. तत्रैव १.२०-२४
१९. तत्रैव २.७
२०. तत्रैव २.१४
२१. तत्रैव ४.१
२२. तत्रैव ४.३
२३. तत्रैव ४.२५
२४. तत्रैव ४.२८
२५. तत्रैव ४.३२
२६. तत्रैव ५.२१
२७. तत्रैव ५.२४
२८. तत्रैव ५.४
२९. तत्रैव १.१५
३०. तत्रैव १.१८
३१. तत्रैव १.१
३२. तत्रैव ३.४
३३. तत्रैव ३.९
३४. तत्रैव ४.२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५. तत्रैव ४.४
३६. तत्रैव ४.६
३७. तत्रैव ४.७
३८. तत्रैव ५.३४
३९. तत्रैव ५.४०
४०. तत्रैव ५.४३
४१. तत्रैव १.४८
४२. तत्रैव ३.३२
४३. तत्रैव २.३५ □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-संस्कृत-वाङ्मय के ऐतिहासिक महाकाव्य

☐ केशवप्रसाद गुप्त

ऐतिहासिक महाकाव्यों से हमारा तात्पर्य महाकाव्य सम्मत लक्षणों से परिपूर्ण ऐसे काव्यों से है, जो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं को समुद्घाटित करते हैं अथवा एक या अनेक ऐतिहासिक महापुरुषों या नरेशों के जीवन-चरित अथवा उनके इतिहास-प्रसिद्ध कृत्यों का काव्यात्मक ढंग से विवेचन करते हैं। संस्कृत-वाङ्मय के महाकाव्यों में इस प्रकार की ऐतिहासिकता का सर्वप्रथम दर्शन पद्मगुप्त विरचित 'नवसाहसाङ्कचरित (१००५ ई०) में होता है। परमारों के इतिहास को जानने के लिए यह महाकाव्य विशेष उपयोगी है। दूसरा ऐतिहासिक महाकाव्य जिसमें इतिहास के घटनाचक्र पर विशेष बल दिया गया है, कश्मीरी कवि विल्हणकृत 'विक्रमाङ्कदेवचरित' है जो कल्याणी के चालुक्य नरेशों के इतिहास से सम्बन्धित है। इसी प्रकार कल्हणकृत 'राजतङ्गिणी' (११४८-११५१ ई०) में पौराणिक काल से लेकर बारहवीं शताब्दी के मध्यकाल तक कश्मीर के प्रत्येक राजा के शासनकाल की घटनाओं का यथाक्रम विवरण दिया गया है। इसी क्रम में संध्याकरनान्दिन के 'रामपालचरित', जयानक कवि के 'पृथ्वीराजविजय' और जल्हण के 'सोमपालविजय' महाकाव्य के नाम भी उल्लेखनीय हैं क्योंकि इनमें ऐतिहासिक घटनाओं को यथावसर समुचित स्थान दिया गया है।

संस्कृत के ऐतिहासिक महाकाव्यों की इसी विकासशील परम्परा में जैनाचार्यों एवं कवियों का योगदान भी अविस्मरणीय है। उन्होंने ऐतिहासिक शैली में काव्य-लेखन-परम्परा का सहर्ष स्वागत किया। इसके शुभारम्भ का श्रेय सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्रसूरि (१०८८-११७२ ई०) को प्राप्त है। तदनन्तर सोमेश्वर, अरिसिंह, बालचन्द्रसूरि, जयसिंहसूरि, नयचन्द्रसूरि चरित्रसुन्दरगणि प्रभृति विद्वान् कवियों ने ऐतिहासिक महाकाव्यों का प्रणयन कर इस परम्परा की श्रीवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

प्रस्तुत अध्ययन में केवल उन्हीं महाकाव्यों का निर्वचन करना अभीष्ट है जिनमें ऐतिहासिकता के साथ-साथ महाकाव्य सम्बन्धी लक्षण विद्यमान हैं। इसीलिए कुछ ऐतिहासिक काव्यों यथा 'जगडूचरित'[1] (सर्वा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नन्दसूरि) और वस्तुपालचरित[२] (जिनहर्ष) को इस श्रेणी में नहीं रखा गया है क्योंकि इनमें अष्टाधिक सर्ग[३] नहीं है। इसी प्रकार कतिपय महाकाव्यों के प्रशस्ति सर्ग यथा वस्तुपालकृत 'नरनारायणानन्द' महाकाव्य (सोलहवां सर्ग) तथा सोमेश्वरकृत 'सुरथोत्सव' महाकाव्य (पन्द्रहवां सर्ग), उदयप्रभसूरिकृत 'धर्माभ्युदय, महाकाव्य (पन्द्रहवां सर्ग) भी यद्यपि ऐतिहासिक घटनाओं से जुड़े हुए हैं; फिर भी इन महाकाव्यों में शास्त्रीय अथवा पौराणिक शैलियों की प्रधानता होने के कारण इन्हें भी ऐतिहासिक महाकाव्यों की श्रेणी में रखना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है।

जैन-संस्कृत-वाङ्मय के ऐतिहासिक महाकाव्यों का विवरण अधोलिखित रूप में अभिव्यक्त करना ज्यादा समीचीन होगा—

द्वयाश्रय महाकाव्य

इस महाकाव्य[४] के रचयिता संस्कृत वाङ्मय के मूर्धन्य विद्वान् कलिकाल सर्वज्ञ जैनाचार्य हेमचन्द्र हैं जिनका समय गुजरात के चौलुक्य नरेश सिद्धराज जयसिंह एवं कुमारपाल के शासन-काल में था। इनके धर्म-शासन-काल में जैन-धर्म राजधर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ था। उन्होंने इस महाकाव्य की रचना बारहवीं शताब्दी (११६३ ई०) में की थी। इसमें कुछ २८ सर्ग हैं जिनमें प्रथम २० सर्ग संस्कृत में और अन्तिम ८ सर्ग प्राकृत भाषा में उपनिबद्ध हैं। संस्कृत द्वयाश्रय में २८२८ श्लोक तथा प्राकृत द्वयाश्रय में १५०० श्लोक[५] हैं। प्राकृत द्वयाश्रय को 'कुमारपालचरित' (कुमारवालचरिय) भी कहा जाता है। कवि का अभिप्राय इस दो आश्रय वाले काव्य से एक ओर व्याकरण के नियमों को समझाने का था तो दूसरी ओर चौलुक्यवंशी शासकों के गुणों का संकीर्तन करने से था। इस नाम का दूसरा कारण यह भी संभव है इसमें संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग हुआ है।

संस्कृत द्वयाश्रय के प्रथम सर्ग में आशीर्वचन रूप मंगलाचरण के पश्चात् चौलुक्यवंश की उत्पत्ति और उस वंश के प्रथम शासक मूलराज के गुणों का वर्णन है। द्वितीय सर्ग से पंचम सर्ग तक मूलराज के राज्यकाल का इतिहास वर्णित है। षष्ठ सर्ग में मूलराज के पुत्र चामुण्डराज की उत्पत्ति, उसके युवक हो जाने पर पिता-पुत्र द्वारा लाट देश पर आक्रमण करना, लाट देश के राजा का मारा जाना, चामुण्डराज का राज्याभिषेक एवं मूलराज का स्वर्ग-गमन वर्णित है। सप्तमसर्ग में चामुण्डराज के बल्लभराज, नागराज एवं दुर्लभराज नामक पुत्रत्रय की उत्पत्ति, शीतला-बीमारी से बल्लभराज की मृत्यु, नागराज द्वारा राज्य ग्रहण न करना, दुर्लभराज का राज्याभिषेक चामुण्डराज का तपश्चरण हेतु नर्मदा किनारे जाना आदि तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। नवम सर्ग में भीम-भोज तथा चेदिराज के मध्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युद्ध, भीम के पुत्रद्वय क्षेमराज एवं कर्ण की उत्पत्ति, कर्ण का राज्याभिषेक, मयणल्लदेवी के साथ उसका विवाह आदि वर्णित है।

दशम सर्ग में पुत्र-प्राप्ति हेतु कर्ण द्वारा लक्ष्मी की उपासना करना एवं वरदान-प्राप्ति का वर्णन है। एकादश सर्ग में जयसिंह की उत्पत्ति, राज्यारोहण, कर्ण का स्वर्गगमन एवं जयसिंह की विजयों का वर्णन किया गया है। द्वादश से पन्द्रहवें सर्ग तक दैवी चमत्कारों से पूर्ण जयसिंह की विविध विजयों, धार्मिक कृत्यों एवं उसके स्वर्गारोहण का वर्णन है। सोलहवें सर्ग में कुमारपाल को राज्य-प्राप्ति, उसके द्वारा विद्रोही राजाओं का दमन एवं आबू पर्वत का माहात्म्य वर्णित है। सत्रहवें सर्ग में रात्रि, चन्द्रोदय, सुरतादि, अठारहवें सर्ग में कुमारपाल और अर्णोराज का युद्ध तथा उन्नीसवें सर्ग में अर्णोराज द्वारा कुमारपाल को अपनी कन्या प्रदान करने का वर्णन है। बीसवे सर्ग में कुमारपाल द्वारा अहिंसा का प्रचार, उसके लोकोपकारी कृत्यों एवं कुमारपाल संवत् चलाने का वर्णन किया है।

प्राकृत द्वयाश्रय के प्रथम सर्ग में बन्दीजनों द्वारा कुमारपाल की कीर्त्ति एवं उसकी दिनचर्या का वर्णन है। द्वितीय सर्ग में मल्लश्रम, कुञ्जर यात्रा, जिन मन्दिर यात्रा एवं जिन पूजा वर्णित है। तृतीय सर्ग में उपवन-शोभा, चतुर्थ सर्ग में ग्रीष्म एवं पंचम सर्ग में अन्य ऋतुओं का वर्णन किया गया है। षष्ठ सर्ग में चन्द्रोदयवर्णन के पश्चात् कोंकणनरेश मल्लिकार्जुन पर विजय की सूचना तथा अनेक राजाओं द्वारा कुमारपाल की अधीनता स्वीकार किये जाने का वर्णन है। सप्तम सर्ग में कुमारपाल द्वारा परमार्थ-चिन्तन, आचार्यों एवं श्रुति-देवता की स्तुति तथा अन्तिम सर्ग में श्रुति देवी के उपदेश का वर्णन किया गया है।

द्वयाश्रय महाकाव्य में महाकाव्योचित समस्त लक्षण विद्यमान हैं। ऐतिहासिक शैली में लिखे गये इस महाकाव्य में इतिहास और व्याकरण का सामंजस्य अत्यन्त रोचक ढंग से किया गया है। इतिहास के अतिरिक्त इसमें तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक स्थितियों का परिचय भी दिया गया है। इसमें विविध रसों की अभिव्यंजना हुई है। वीर रस इसका अंगीरस है। शब्दों तथा अर्थों को चमत्कृत करने के लिए महाकाव्य में यथास्थान अलङ्कारों का भी प्रयोग हुआ है। निस्सन्देह, यह महाकाव्य परवर्ती ऐतिहासिक काव्यों के लिए प्रेरणा-स्रोत के रूप में उपस्थित हुआ है।

कीर्त्तिकौमुदी महाकाव्य

गुजरात के चौलुक्य नरेश वीरधवल के इतिहास-प्रसिद्ध महामात्य वस्तुपाल के जीवन चरित को लक्ष्य कर उसके जीवनकाल में ही कवियों ने ग्रंथों का प्रणयन आरम्भ कर दिया था। महाकवि सोमेश्वर विरचित 'कीर्त्ति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कौमुदी'[4] महाकाव्य भी महामात्य वस्तुपाल के जीवन चरित पर आधारित है। यह महाकाव्य ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सोमेश्वर (११७९-१२६२ ई०) वस्तुपाल के दरबारी कवि थे।[5] उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना वस्तुपाल के जीवनकाल में ही की थी। अतएव इसकी रचना सं० १२९६ से पूर्व अवश्य हो चुकी थी। इस महाकाव्य में ९ सर्ग हैं।

प्रथम सर्ग में कवि ने पाटन नगर का वर्णन किया है। द्वितीय सर्ग में मूलराज से लेकर भीम द्वितीय तक सभी चौलुक्य नरेशों का वर्णन है जिसमें सिद्धराज जयसिंह को विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न शासक बतलाया गया है। तदनन्तर बघेला लवणप्रसाद के स्वप्न का वर्णन है। स्वप्न में उसे गुजरात की राज्य-लक्ष्मी दिखायी पड़ती है जो अपने पूर्व वैभव एवं तत्कालीन नष्टप्राय गौरव को प्रकट करती है। स्वप्न-समाप्ति के पश्चात् लवणप्रसाद अपने पुत्र वीरधवल तथा पुरोहित को कवि के पास भेजता है। कवि स्वप्न के तात्पर्य के समझाता है और राज्य-संचालन हेतु योग्य मंत्रियों के चयन की संस्तुति करता है।

तृतीय सर्ग में प्राग्वाट (वणिक्) वंश से सम्बन्धित वस्तुपाल के पूर्वजों का वर्णन है। चतुर्थ सर्ग में वस्तुपाल और तेजपाल की मंत्री पद पर नियुक्ति और पंचम सर्ग में वस्तुपाल को स्तम्भतीर्थ का मण्डलाधिप बनाने तथा उसके द्वारा दक्षिण के आक्रमणों को रोकने की घटना का वर्णन हैं। षष्ठ सर्ग में लाट देश के शासक शङ्ख पर वस्तुपाल की विजय और विजयोत्सव का वर्णन किया गया है। सप्तम सर्ग में काव्य-परम्परागत ढंग से स्तम्भ-तीर्थ के सौन्दर्य का वर्णन है। अष्टम सर्ग में चन्द्रोदय वर्णन और अन्तिम सर्ग में वस्तुपाल के दैनिक जीवन तथा शत्रुञ्जय, गिरिनार एवं प्रभास तीर्थ की यात्राओं का भव्य वर्णन है।

यद्यपि यह महाकाव्य लघु कलेवर का है; फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। इसमें वस्तुपाल की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से की गयी है। महाकाव्य में विविध रसों की अभिव्यक्ति हुई है। इसमें स्वाभाविक रूप से अलंकारों का प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा सरल एवं प्रवाहपूर्ण है। इसमें प्रकृति-चित्रण को भी यथावसर स्थान दिया गया है।

सुकृतसङ्कीर्तन महाकाव्य

सुकृतसङ्कीर्तन[6] महाकाव्य के रचयिता अरिसिंह ठक्कुर हैं। ये वस्तुपाल के प्रिय कवि थे। महाकाव्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसकी रचना उस समय की गयी थी जब वस्तुपाल सत्ता के चरम शिखर पर था। इसमें वस्तुपाल के सम्पूर्ण कृत्यों का उल्लेख नहीं है जिससे स्पष्ट होता है इसकी रचना भी वस्तुपाल की मृत्यु (वि० सं० १२९६)[7] से पूर्व हो चुकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थी। इस महाकाव्य में ग्यारह सर्ग हैं।

प्रथम सर्ग में अणहिलवाड़ में शासन करने वाले प्रथम राजवंश चापोत्कट (चावड़ा) के राजाओं की वंशावली और उक्त नगर का वर्णन किया गया है। इसमें चावड़ा वंश के आठ राजाओं—वनराज, योगिराज, रत्नादित्य, वैरसिंह, क्षेमराज, चामुण्ड, राहड़ और भूभट—के नाम गिनाये गये हैं। इस सर्ग में उल्लेख है कि वनराज ने अणहिलवाड़ में पंचसारा पार्श्वनाथ के मन्दिर का निर्माण कराया था, बाद में उसका जीर्णोद्धार वस्तुपाल ने कराया।

दूसरे सर्ग में चौलुक्य वंश का वर्णन है जिसमें इस वंश के संस्थापक मूलराज से लेकर भीम द्वितीय तक के शासकों का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है। तत्पश्चात् इसी सर्ग में सामन्तों और मण्डलीकों द्वारा भीम के शासन में हस्तक्षेप करना और भीम का चिन्तामग्न होना वर्णित है। तृतीय सर्ग में राजा भीम बघेला लवणप्रसाद को सर्वेश्वर पद पर, उसके पुत्र वीरधवल को युवराज पद पर तथा वस्तुपाल एवं तेजपाल भातृयुगल को मन्त्रिपद पर नियुक्त करता है। चतुर्थ से एकादश सर्ग पर्यन्त वस्तुपाल के धार्मिक सुकृत्यों का सङ्कीर्तन किया गया है।

यह सबसे पहला ऐतिहासिक महाकाव्य है जिसमें चावड़ा वंश का वर्णन किया गया है।[10] ऐतिहासिक पक्ष की प्रधानता के कारण इसका साहित्यिक पक्ष दब सा गया है। इसमें अङ्गीरस के रूप में किसी भी रस की स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति नहीं हुई है। इसमें वस्तुपाल और तेजपाल की चरित्रगत विशेषताओं को भलीभांति उद्घाटित किया गया है। इस महाकाव्य का कलेवर बहुत छोटा (५३३ श्लोक) है। इसकी भाषा सरल और कहीं-कहीं अलंकार-सम्पन्न है। इसमें ऐतिहासिक शैली की प्रधानता है।

वसन्तविलास महाकाव्य

इस महाकाव्य[11] में भी महामात्य वस्तुपाल का जीवन चरित वर्णित है। वस्तुपाल के अपरनाम 'वसन्त' या 'वसन्तपाल' के आधार पर इस महाकाव्य का नामकरण हुआ है। इसके रचयिता चन्द्रगच्छीय जैनाचार्य हरिभद्रसूरि के शिष्य बालचन्द्रसूरि हैं। इस महाकाव्य की रचना वस्तुपाल की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र जैत्रसिंह के अनुरोध पर की गयी है।[12] इसी आधार पर इसका रचना काल वि. सं. १२९६ से १३१० के मध्य अनुमानित किया गया है। इसमें चौदह सर्ग हैं जिनमें कुल १०२१ श्लोक हैं।[13]

प्रथम सर्ग में सरस्वती एवं आदिनाथ की स्तुति रूप मंगलाचरण के पश्चात् सज्जन-प्रशंसा, खल-निंदा, काव्य माहात्म्य और कवि का स्वकीय परिचय है। द्वितीय सर्ग में चौलुक्यों की राजधानी अणहिलवाड़ पाटन का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भव्य वर्णन किया गया है। तृतीय सर्ग में चौलुक्य वंश की उत्पत्ति, मूलराज से भीम द्वितीय तक ग्यारह नरेशों का इतिहास, बघेला लवणप्रसाद एवं उसके पुत्र वीरधवल द्वारा भीम के साम्राज्य की रक्षा, वस्तुपाल के पूर्वजों का परिचय तथा वीरधवल द्वारा वस्तुपाल एवं तेजपाल की मन्त्रिपद पर नियुक्ति का वर्णन है। चतुर्थ सर्ग में मन्त्रियों के गुणों का वर्णन तथा वीरधवल द्वारा वस्तुपाल को खम्मात का गवर्नर नियुक्त किये जाने की सूचना है। पंचम सर्ग में वस्तुपाल और लाट देश के चाहमान शासक शङ्ख के मध्य युद्ध और शङ्ख की पराजय का वर्णन है। षष्ठ सर्ग में ऋतुवर्णन, सप्तम में पुष्पावचय, दोलाक्रीडा, जलकेलि और अष्टम सर्ग में संध्या, चन्द्रोदय एवं रतिक्रीडा का वर्णन है। नवम सर्ग में वस्तुपाल की निद्रावस्था में लंगड़ाते हुए धर्म का आगमन, उसके द्वारा वस्तुपाल को तीर्थयात्रा करने का आग्रह किया जाना एवं प्रभात-वर्णन है।

दशम सर्ग में वस्तुपाल तीर्थ-यात्रा के लिए प्रस्थान करता है। लाट, गौड़, मरु, कच्छ, अवन्ति, वङ्ग आदि देशों के संघपति वस्तुपाल की संघ यात्रा में सम्मिलित होते हैं। मार्ग में मंदिरों का जीर्णोद्धार एवं देव-दर्शन करते हुए संघ शत्रुञ्जय पहुंचता है। वहां पर्वत पर स्थित आदिनाथ के मन्दिर में भव्य पूजन होता है। एकादश सर्ग में वस्तुपाल ससंघ प्रभास पत्तन में पहुंचकर वहां सोमेश्वर की विधिवत् पूजा करता है। वह प्रियमेल तीर्थ में स्नान कर ब्राह्मणों को स्वर्ण और रत्नों का तुलादान करता है। तदनन्तर अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ का पूजन कर संघ गिरिनार पर्वत की ओर प्रस्थान करता है।

द्वादश सर्ग में रैवतक (गिरिनार) पर्वत का भव्य एवं मनोहारी वर्णन है। त्रयोदश सर्ग में रैवतक पर्वत के मुख्य मन्दिर में तीर्थङ्कर नेमिनाथ के अष्टविध पूजन का वर्णन किया गया है। तदनन्तर संघ के धवल्लकपुर वापस आने, वस्तुपाल द्वारा संघ-यात्रियों को भोज देने एवं उन्हें ससम्मान विदा करने का वर्णन है। चतुर्दश सर्ग में वस्तुपाल के धार्मिक एवं लोकोपकारी कृत्यों की चर्चा के पश्चात् नाटकीय ढंग से वस्तुपाल के स्वर्गगमन का वर्णन किया गया है। तदनुसार वस्तुपाल वि. सं. १२९६, माघ, कृष्णा, पंचमी, रविवार को प्रातःकाल सद्गति के साथ स्वर्ग पहुंचा।[१४]

वसन्तविलास महाकाव्य का अंगीरस वीर है। इसमें वस्तुपाल की दानवीरता, धर्मवीरता, युद्धवीरता एवं दयावीरता का भलीभांति निरूपण किया गया है। वीर रस के परिपोष में रौद्र, वीभत्स एवं अद्भुत रसों की भी सफल व्यंजना हुई है। अष्टम सर्ग में सम्भोग-शृङ्गार की अभिव्यक्ति हुई है। षष्ठ एवं द्वादश सर्गों में कवि ने यमक अलंकार का प्रयोग किया है जो अत्यन्त मनोहरी है। इस महाकाव्य की भाषा प्रौढ़ और प्रवाहपूर्ण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसमें यत्र-तत्र सूक्तियों का प्रयोग मिलता है। इसका छंदोविधान महाकाव्यीय परम्परा के अनुकूल है। इसमें २९ प्रकार के छन्दों का प्रयोग मिलता है जिनमें उपजाति की संख्या सर्वाधिक है।

कुमारपाल भूपालचरित महाकाव्य

इस महाकाव्य[15] में ऐतिहासिक एवं पौराणिक दोनों शैलियों का सम्मिश्रण प्राप्त होता है। परन्तु इसका ऐतिह्य पक्ष प्रधान है, इसीलिए इसे ऐतिहासिक महाकाव्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसके प्रारम्भिक सर्ग में नायक की वंश-परम्परा का वर्णन है और अन्तिम सर्ग में कुमारपाल के पूर्व भवों का विवरण दिया गया है। इसमें स्थान-स्थान पर जैन धर्म के उपदेश भी विद्यमान हैं। प्रस्तुत महाकाव्य के रचयिता कृष्णर्षिगच्छीय जयसिंहसूरि हैं। इसकी रचना वि. सं. १४२२ में हुई थी।[16] इसमें १० सर्ग और कुल ६०५३ श्लोक हैं।

इस महाकाव्य के प्रथम सर्ग में मूलराज से लेकर अजयपाल तक गुजरात के चौलुक्य नरेशों का क्रमिक इतिहास वर्णित है। इसमें प्रदत्त मूलराज की उत्पत्ति का विवरण शिलालेखीय प्रमाणों द्वारा प्रामाणिक सिद्ध होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह सर्ग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस महाकाव्य में सिद्धराज जयसिंह को शैवमतावलम्बी तथा सन्तानरहित शासक कहा गया है। कुमारपाल को उत्तराधिकार न देने के लिए उसने विविध प्रकार के षड्यन्त्र रचे थे। कुमारपाल भी प्रारम्भ में शैव धर्म का अनुयायी था और बाद में हेमचन्द्राचार्य के प्रभाव में आकर उसने जैन धर्म स्वीकार किया।

जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् शासन-सत्ता कुमारपाल को प्राप्त हुई। कुमारपाल का महामात्य उदयन था और वाग्भट उसका अमात्य था। कुमारपाल अत्यन्त पराक्रमी शासक थ। उसने मेड़ता और पल्लीकोट के राजाओं को पराजित किया और जाबालपुर, कुरु तथा मालव के राजाओं को अपने प्रभाव में लिया। उसने कोंकण नरेश मल्लिकार्जुन को पराजित किया और इस विजय के उपलक्ष में आम्रभट को 'राजपितामह' का विरुद प्रदान किया। उसने सोमनाथ का जीर्णोद्धार कराया और संघ सहित वहां की यात्रा की जिसमें हेमचन्द्रसूरि भी साथ में थे। आचार्य हेमचन्द्र ने भृगु-कच्छ में आम्रभट द्वारा बनवाये गये मुनिसुव्रतनाथ के चैत्य में सं० १२११ में जिन-प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। वि. सं. १२२९ में हेमचन्द्र की मृत्यु हो गयी। इसके पश्चात् वि. सं. १२३० में कुमारपाल का भी अन्त हो गया। तदन्तर शासन-सत्ता की वागडोर अजयपाल ने संभाली। इस प्रकार यह महाकाव्य विविध ऐतिह्य तथ्यों से परिपूर्ण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुमारपाल भूपालचरित एक घटना प्रधान महाकाव्य है। मूल कथानक में हेमचन्द्र और कुमारपाल से सम्बन्धित अनेक अलौकिक और अतिप्राकृतिक अवान्तर कथाओं की योजना की गयी है। इसमें वीररस की प्रधानता है। इसके कुछ स्थलों पर शान्त रस की अभिव्यक्ति हुई है। इसकी भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है जिसमें देशी भाषा के शब्द भी प्राप्त होते हैं। इसके प्रत्येक सर्ग में अनुष्टुप् छन्द की प्रधानता है। इसमें अलंकारों का प्रयोग कम हुआ है।

हम्मीर महाकाव्य

हम्मीर महाकाव्य[13] के रचयिता नयचन्द्रसूरि हैं जो कुमारपालभूपाल चरित के रचयिता जयसिंहसूरि के प्रशिष्य और प्रसन्नचन्द्रसूरि के शिष्य थे। श्री अगरचन्द्र नाहटा महोदय को इस महाकाव्य की जो प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी, वह वि. सं. १४८६ की है। अतः इसकी रचना इससे पूर्व अवश्य हो चुकी थी। इतिहासकार डॉ० दशरथ शर्मा ने इसका रचनाकाल वि. सं. १४४० के लगभग माना है।[14] हमीर महाकाव्य में कुल १४ सर्ग हैं।

प्रथम सर्ग में चाहमान वंश की उत्पत्ति पौराणिक आधार पर वर्णित है। तत्पश्चात् वासुदेव से लेकर सिंहराज तक हम्मीर के पूर्वज चाहमान राजाओं का संक्षिप्त इतिहास है। द्वितीय सर्ग में भीमराज से लेकर पृथ्वीराजपर्यन्त १८ राजाओं का वर्णन है। तृतीय सर्ग में शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमणों से भयभीत पश्चिम भारत के राज पृथ्वीराज से सहायता मांगते हैं। पृथ्वीराज शहाबुद्दीन को बन्दी बनाता है और दण्ड देकर उसे छोड़ देता है। आठवीं बार वह स्वयं पराजित हो जाता है और बन्दी-गृह में अनशन करने से उसकी मृत्यु हो जाती है। चतुर्थ सर्ग में पृथ्वीराज के पौत्र गोविन्दराज द्वारा रणस्तम्भपुर में नवीन राज्य स्थापित करने, उसके पुत्र प्रह्लादन की मृत्यु और प्रह्लादन के पुत्र वीरनारायण के राजा बनने की घटना वर्णित है। शकपति अल्लाबुद्दीन छल से वीरनारायण को मरवा देता है। तदनन्तर प्रह्लादन के कनिष्ठ भ्राता वाग्भट द्वारा रणस्तम्भपुर को अधिकार में करने, उसके पुत्र जैत्रसिंह के गद्दी पर बैठने एवं उसकी पत्नी हीरादेवी के गर्भ से हमीर के उत्पन्न होने का वर्णन है।

पंचम सर्ग में ऋतु वर्णन, षष्ठ सर्ग में जलकेलि और सप्तम सर्ग में सन्ध्या, चन्द्रोदय एवं सुरतादि का वर्णन किया गया है। अष्टम सर्ग में हम्मीर के राजा बनने और जैत्रसिंह की मृत्यु का वर्णन है। नवम सर्ग में हम्मीर की दिग्विजयों का वर्णन किया गया है। हम्मीर द्वारा कर न देने पर दिल्ली नरेश अल्लाबुद्दीन अपने भाई उल्लूखान को हम्मीर पर आक्रमण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने के लिए भेजता है। हम्मीर अपने सेनापति भीमसिंह और धर्मसिंह को युद्ध के लिए भेजता है। धर्मसिंह की मूर्खता से चाहमान सेना हार जाती है और भीमसिंह मारा है। हम्मीर भोज को दण्डनायक नियुक्त करता है। परन्तु धर्मसिंह अपनी कूटनीति द्वारा पुनः अपना पुराना पद प्राप्त कर लेता है। वह भोज को अवमानित करता है। फलस्वरूप भोज अल्लाबुद्दीन की सेवा स्वीकार कर लेता है।

दशम सर्ग में भोज के परामर्श से हम्मीर पर पुनः आक्रमण किया जाता है। इस युद्ध में उल्लूखान पराजित होकर भाग जाता है। इधर महिमासाहि जगरा पर आक्रमण कर भोज के भाई को वन्दी बना लेता है। भोज की दुर्दशा को सुनकर अल्लाबुद्दीन हम्मीर को दण्ड देने की प्रतिज्ञा करता है। एकादश सर्ग में निसुस्तखान और उल्लूखान युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं। युद्ध में निसुस्तखान मारा जाता है। द्वादश सर्ग में अल्लाबुद्दीन स्वयं रणस्तम्भपुर पर आकमण करता है। त्रयोदश सर्ग में वह उत्कोच देकर रतिपाल को अपनी ओर मिला लेता है। रतिपाल अपनी कूटनीति से रणमल्ल और जाहड़ को भी अपने साथ ले लेता है। इस परिस्थिति को देखकर हम्मीर निराश हो जाता है। अन्तःपुर की स्त्रियाँ जौहर व्रत का पालन करती हैं। हम्मीर रणभूमि में जाता है और अपनी हार सुनिश्चित जानकर स्वयं अपना वध कर लेता है। चतुर्दश सर्ग में हम्मीर के गुणों की स्तुति एवं कवि प्रशस्ति है।

हम्मीर महाकाव्य का नायक स्वजातीय गौरव की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति कर देता है। यह एक दुःखान्त महाकाव्य है। इसमें मध्यकालीन भारतीय इतिहास को प्रस्तुत किया गया है।[19] इसमें वीर रस की प्रधानता है। वस्तुतः रस-प्रधान काव्य की रचना करना ही कवि का उद्देश्य था।[20] महाकाव्य में ऐतिहासिकता के साथ ही उच्च कोटि की साहित्यिकता भी विद्यमान है। इस महाकाव्य में कुल २६ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है।

कुमारपालचरित महाकाव्य

कुमारपालचरित[21] महाकाव्य की कथावस्तु भी गुर्जर नरेश कुमारपाल से सम्बन्धित है। इसमें हेमचन्द्र और कुमारपाल के सम्बन्धों की चर्चा विस्तार से की गयी है। इसके रचयिता जयचन्द्र के पट्टधर, रत्नसिंहसूरि के शिष्य चरित्रसुन्दरगणि हैं।[22] इनके साहित्य-गुरु जयमूर्ति पाठक थे।[23] इस महाकाव्य की रचना वि. सं. १४८७ में हुई थी।[24] इसमें कुल १० सर्ग हैं।

प्रथम सर्ग में भीमदेव (प्रथम) से लेकर सिद्धराज जयसिंह तक कुमारपाल के पूर्वजों का वर्णन है। सिद्धराज जयसिंह के दिग्विजय से लौटने पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशवर्षीय शिशु सोमचन्द्र उसे आशीर्वाद देता है। यही शिशु कालान्तर में हेमचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध होता है। द्वितीय सर्ग में सिद्धराज जयसिंह संतान-हीनता से विह्वल होकर भगवान् शंकर की उपासना करता है। महादेव कुमारपाल को ही उत्तराधिकारी घोषित करते हैं। ईर्ष्यावश जयसिंह सपरिवार कुमारपाल को नष्ट करने की प्रतिज्ञा करता है। वह कुमारपाल के पिता का वध करवा देता है। कुमारपाल छिपकर इधर-उधर भटकता रहता है। तृतीय सर्ग में जयसिंह की मृत्यु, कुमारपाल का राज्याभिषेक तथा आम्बड एवं कोंकण नरेश मल्लिकार्जुन के युद्ध का वर्णन है। इस युद्ध में आम्बड मल्लिकार्जुन का सिर काटकर उसे कुमारपाल को भेंट करता है।

चतुर्थ सर्ग में हेमचन्द्र की प्रेरणा से कुमारपाल जैन धर्म स्वीकार करता है। वह दुर्व्यसनों को त्याग देता है और राज्य से भी इन्हें बहिष्कृत कर देता है। पंचम सर्ग में कुमारपाल को जैन धर्म में दीक्षित जानकर काशी से एक शैव योगी आता है जो मन्त्रवल से कुमारपाल के माता-पिता को को प्रकट करता है। वे कुमारपाल द्वारा किये गये धर्म-परिवर्तन के कारण अपनी दुर्दशा व्यक्त करते हैं। इस पर हेमचन्द्र अपनी ध्यान-शक्ति से उन्हें पुनः प्रकट करते हैं। वे देवलोक में अपनी सुख-शांति का परिचय देते हैं। देवबोध नामक वह योगी हेमचन्द्र को तर्क में पराजित करने का असफल प्रयास करता है। षष्ठ सर्ग में यवनराज का आक्रमण, कुमारपाल की शाकम्भरी नरेश अर्णोराज पर विजय, सौराष्ट्र के शासक संसुर और कुमार-पाल के मंत्री उदयन के मध्य युद्ध आदि ऐतिह्य घटनाओं का वर्णन है। सप्तम सर्ग में कुमारपाल वाग्भट को मन्त्री तथा आम्बड को दण्डाधिपति नियुक्त करता है।

अष्टम सर्ग में कुमारपाल की धार्मिकता, दानशीलता, उदारता एवं गुरुभक्ति का वर्णन है। गुरु की आज्ञा से वह प्रजा को जैन-धर्म में दीक्षित करता है और उत्तराधिकारहीनों की सम्पत्ति का अधिग्रहण करना त्याग देता है। नवम सर्ग में हेमचन्द्र कुमारपाल के पूर्व भवों का वर्णन करते हैं। दशम सर्ग में कुमारपाल शत्रुञ्जय तथा गिरिनार पर्वतों की यात्रा करता है। यात्रा से पूर्व ही उसे डाहल नरेश कर्ण के भावी आक्रमण की सूचना मिलती है। इस आक्रमण से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो जाती है। इस सर्ग के शेष भाग में हेमचन्द्र एवं कुमारपाल की मृत्यु तथा उससे उत्पन्न शोक का वर्णन किया गया है।

वस्तुतः इस महाकाव्य का इतिहास-तत्त्व कुछ अस्त-व्यस्त सा है। इसमें वर्णित घटनाएं कहीं-कहीं अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से मेल नहीं खाती हैं। इसमें चरित्र की प्रधानता है। कुमारपाल, हेमचन्द्र एवं उदयन की चरित्र-गत विशेषताओं को भलीभांति निरूपित किया गया है। इस महाकाव्य में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज-चित्रण की भी महत्त्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है। इसमें वीर रस की प्रधानता है और यथावसर समुचित अलंकारों का भी प्रयोग किया गया है। महाकाव्य में कुल २३ प्रकार के छन्द प्रयुक्त हैं जिनमें उपजाति की संख्या सर्वाधिक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जैन-संस्कृत-वाङ्मय के ऐतिहासिक महाकाव्यों में चौलुक्य नरेश कुमारपाल एवं राजा वीरधवल के महामात्य वस्तुपाल के चरित्र-विषयक महाकाव्यों की संख्या अधिक है। कुमारपाल के ज़ीवन चरित पर आधारित महाकाव्यों में कुमारपाल पर्यन्त गुजरात के चौलुक्य नरेशों का वर्णन प्राप्त होता है, जबकि वस्तुपाल से सम्बन्धित महाकाव्यों में चौलुक्य नरेशों के साथ ही प्राग्वाट वंश का भी परिचय दिया गया हैं। इस प्रकार यदि यह कहा जाए कि इस वाङ्मय के अधिकांश ऐतिहासिक महाकाव्य चौलुक्यवंशी नरेशों का वर्णन प्रस्तुत करते हैं तो कदाचित् अतिशयोक्ति न होगी।

वस्तुतः गुजरात का मध्यकालीन सम्यक् इतिहास जैन कवियों की रचनाओं में ही मुखरित हुआ है।[१५]

इन कवियों ने कुमारपाल और वस्तुपाल जैसे उदात्त चरित्र वाले ऐतिहासिक महापुरुषों को नायक बनाकर अपने काव्यों में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश किया है। इसके अतिरिक्त हम्मीर महाकाव्य अपने ढंग का एक अनोखा महाकाव्य है जिसमें चाहमान वंश का इतिहास सरस एवं रोचक शैली में अभिव्यक्त किया गया है। इसमें मध्यकालीन भारतीय इतिहास के साथ यह भी दर्शाया गया है कि हम्मीर जैसे क्षत्रिय नरेश आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए आत्म-बलिदान को श्रेयस्कर समझते थे।

इन ऐतिहासिक महाकाव्यों की कुछ मौलिक विशेषताएं भी हैं। नायक की मृत्यु के उपरान्त रचे गये महाकाव्यों में नायक की मृत्युपर्यन्त घटनाओं का वर्णन प्राप्त होता है। इनमें वंशोत्पत्ति सम्बन्धी विवरण पौराणिक आधार पर दिये गये हैं।

इन महाकाव्यों में नायक के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिए उसकी कमजोरियों को छिपाया गया है अथवा उन्हें प्रच्छन्न रूप में व्यक्त किया गया है ताकि नायक के चरित्र-विकास-क्रम में कोई बाधा उत्पन्न न हो सके। कुछ महाकाव्यों में प्रदत्त ऐतिहासिक घटनाओं की तिथियां कहीं-कहीं ऐतिह्य प्रमाणों से मेल नहीं रखती हैं।[१६] इन महाकाव्यों में महाकाव्य सम्मत लक्षणों का निर्वाह करने का प्रयास किया गया है। फलस्वरूप इनमें विभिन्न अवान्तर प्रसङ्गों एवं एवं वर्णन-प्रसंगों की योजना भी की गयी है। इनका अङ्गीरस वीर है परन्तु अङ्गरूप में प्रायः सभी रसों की व्यंजना हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं को उद्घाटित करते समय प्रायः इनमें सरल भाषा का प्रयोग किया गया है।

ऐतिहासिक महाकाव्यों के प्रणयन में जैन-कवियों का रुझान इतिहास के साथ ही उच्चस्तरीय काव्य के निर्माण का भी था। इतिहास को काव्यात्मक विधि में प्रस्तुत करने में कल्पना, अतिशयोक्ति, कथावस्तु के अनुरूप घटना-संगठन आदि स्वाभाविक ही है। जैन-कवियों ने इन महाकाव्यों में इतिहास और साहित्य दोनों का मंजुल समन्वय स्थापित किया है। इसीलिए आज भी इतिहासकार इन महाकाव्यों की पंक्तियों को ऐतिह्य-तथ्यों की प्रामाणिकता हेतु सहर्ष स्वीकार करते हैं। □

सन्दर्भ

१. जगडूचरित काव्य में गुजरात के श्रेष्ठी जगडूशाह का उदात्त चरित्र वर्णित है। इसमें केवल ७ सर्ग हैं।

२. वस्तुपालचरित के आठ प्रस्तावों में वस्तुपाल का चरित्र वर्णित है। जै० ध० प्र० सभा, भावनगर वि. स. १९७४।

३. नाति स्वल्पाः नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।—आचार्य विश्वनाथ, साहित्य-दर्पण, ६/१२०।

४. अभयतिलक गणि की संस्कृत टीका सहित, बम्बई संस्कृत एवं प्राकृत सिरीज से १९१५ एवं १९१५ एवं १९२१ ई. में दो भागों में प्रकाशित।

५. संस्कृत द्वयाश्रय पर अभयतिलकगणि ने वि. सं. १३१२ में और प्राकृत द्वयाश्रय पर पूर्णकलशगणि से वि. सं. १३०७ में टीकायें लिखी हैं।

६. कीर्तिकौमुदी, सं० मुनि जिन विजय, काव्यमाला संस्कृत सिरीज बम्बई, १९६० ई०।

७. डॉ० भोगीलाल सांडेसरा, महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल, पृ० ६०, वाराणसी, १९५९ ई०।

८. सुकृतसङ्कीर्तन, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, ग्रन्थांक ५१, सं० १९७४।

९. वसन्तविलास, १४/३७

१०. चावड़ा वंश का शिलालेखीय उल्लेख सर्वप्रथम वि. सं. १२०८ में मिलता है। देखें— वडनगरप्रशस्ति।

११. वसन्तविलास, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज बड़ौदा, १९१७ ई०।

१२. श्री जैत्रसिंह मनोविनोदकृते काव्यमिदमुदीर्यते ह।—वसन्तविलास, १/७५।

१३. इस संख्या में सर्गान्त में दिये गये जैत्रसिंह के प्रशंसा-विषयक श्लोक भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्मिलित हैं।
१४. वसन्तविलास, १४/३७।
१५. कुमारपालभूपालचरित, हीरालाल हंसराज प्रकाशन, जामनगर १९१५ ई०।
१६. श्रीविक्रमन्तपाद द्वि द्वि मन्तब्दे (१४२२) ऽयमजायत्।
ग्रन्थः ससप्तत्रिंशती षट् सहस्रानुष्टुभाम् ॥ कु० भू० च०, प्रशस्ति भाग।
१७. हम्मीर महाकाव्य, सं. नीलकण्ठ जनार्दन कीर्तने, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८७९ ई०।
१८. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६४, सं. २०१६, पृ. ६७।
१९. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ. ४१९, वाराणसी, १९७१ ई०।
२०. तद्भ्रूचापकेलिदोलितमनाः शृङ्गारवीराद्भुतम्।
चक्रे काव्यमिदं हम्मीरनृपतेर्नव्यं नयेन्दुः कविः ॥–हम्मीर महाकाव्य, १४/४३।
२१. कुमारपालचरित, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि. सं. १९७३।
२२. वही, १०/३५।
२३. वही, १०/३८।
२४. जिनरत्नकोश, भाग-१, पृ. ९२, मुनि चतुरविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९४९ ई.।
२५. डॉ. श्यामशंकर दीक्षित, तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन महाकाव्य, भूमिका भाग, जयपुर, १९६९ ई.।
२६. डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-६ पृ. ३९४ पा. वि. आ. शोध संस्थान, वाराणसी, १९७३ ई०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाट्यदर्पण में मौलिक चिंतन

☐ कृष्णपाल त्रिपाठी

कला के उत्कृष्टतम रूप 'नाट्य' के स्वरुप, तत्त्व एवं प्रकृति को पूर्णतः हृदयङ्गम करने के लिए भरत-प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' की अप्रतिम महत्ता है। यह केवल नाट्यकला का ही नहीं, अपितु समस्त ललित-कलाओं का विश्वकोष है। इसमें नाट्य-सिद्धांतों की जितनी व्यापक एवं सर्वाङ्गीण विवेचना की गई है, उतनी किसी भी अन्य ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होती। इसी-लिए इसे 'नाट्यवेद' की महनीय संज्ञा से अभिहित किया जाता है। विषय की व्यापकता एवं विविधता के कारण 'नाट्यशास्त्र' अत्यन्त विशाल ग्रन्थ है। इसके कुल छत्तीस अध्यायों में लगभग छः सहस्र श्लोक हैं। नाट्य विषयक मन्तव्य भी प्रायः बिखरे हुए और अत्यधिक विस्तार के साथ प्रस्तुत किये जाने के कारण इस ग्रन्थ द्वारा नाट्यविद्या का परिज्ञान विद्वानों के लिए भले ही सुगम हो परन्तु सामान्यबुद्धिजनों के लिए वह दुरूह ही है। अतः नाट्य-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक विषयों को बोधगम्य बनाने के लिए ही परवर्ती आचार्यों ने अनेक स्वतन्त्र एवं संक्षिप्त ग्रंथों का प्रणयन किया, जिनमें 'नाट्यदर्पण' का प्रमुख स्थान है। यह सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री हेमचन्द सूरि के दो वरिष्ठ शिष्यों—रामचन्द्रसूरि एवं गुणचन्द्रगणि की सम्मिलित रचना है। इसमें मुख्यतः रूपक-रचना से सम्बन्धित विषयों का ही प्रतिपादन किया गया है। कुछ लोगों का विचार है कि इसकी रचना धनञ्जय के 'दशरूपक' की प्रतिद्वन्द्विता में हुई है।[1] डॉ. के. एच. त्रिवेदी ने नाट्यदर्पण का रचना-काल द्वादश शताब्दी का उत्तरार्ध अर्थात् सन् ११५० से ११७० ई० के मध्य माना है।[2]

नाट्यदर्पण के मुख्यतः तीन अंश हैं —कारिका, वृत्ति एवं उदाहरण। कारिकायें सूत्र-शैली में निबद्ध हैं, जिनमें अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में दो सौ सात कारिकायें हैं, जिन्हें चार विवेकों में विभाजित किया गया है। ये चारों विवेक क्रमशः 'नाट्कनिर्णय', 'प्रकरणाद्येकादश-रूप निर्णय', 'वृत्ति-रस-भावाभिनयविचार' एवं 'सर्वरूपक-साधारण-लक्षण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्णय' नाम से प्रसिद्ध हैं। संक्षिप्तता के कारण कुछ स्थलों पर ये कारिकायें सुबोध नहीं है। अतः इन दोनों विद्वानों ने 'स्वोपज्ञविवरण' नाम से अत्यन्त सारगर्भित एवं सुस्पष्ट वृत्ति भी लिख दी। इसमें प्रतिपाद्य विषयों के स्पष्टीकरण हेतु अनेक ग्रन्थों के उदाहरण दिये गये हैं। उद्धृत ग्रन्थों में कुछ तो स्वयं रामचन्द्रसूरि के और कुछ अन्य कवियों के हैं। सामान्य रूप से नाट्यदर्पण का मूल आधार भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र ही है, किन्तु इसमें अनेक स्थलों पर पूर्ववर्ती अन्यान्य आचार्यों के मतों की आलोचना करते हुए अपने नवीन मंतव्यों की स्थापना भी की गयी है। इन विद्वानों ने कालिदास आदि महाकवियों के बनाये हुए अनेक रूपकों का अवलोकन एवं स्वयं भी अनेक रूपकों की रचना करने के पश्चात् अर्थात् नाट्य-लक्षण आदि का पूर्ण परिज्ञान और अनुभव प्राप्त कर नाट्यदर्पण का प्रणयन किया है।[३] अतः स्पष्ट है कि नाट्यदर्पणकारद्वय के विचार निश्चित रूप से प्रामाणिक एवं सारगर्भित हैं।

नाट्यदर्पणकार—रामचन्द्रगुणचन्द्र अत्यन्त निर्भीक एवं प्रखर प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। उन्होंने नाट्य-सम्बन्धी विषयों का नवीन ढंग से चिन्तन किया है। इसलिए नाट्यदर्पण में पग-पग पर मौलिकता दृष्टिगोचर होती है, किंतु यहां पर कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रसङ्गों की चर्चा करते हुए उनके मौलिक चिन्तन पर ही प्रकाश डालने का प्रयास किया जाएगा।

भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र रूपक के दस भेद बतलाये गये हैं—नाटक, प्रकरण, अङ्क (उत्सृष्टिकाङ्क), व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग।[४] यद्यपि भरत ने केवल दस रूपक भेदों का ही विवेचन करने की प्रतिज्ञा की थी तथापि नाटक और प्रकरण का लक्षण करने के बाद उन्होंने एक अन्य भेद 'नाटिका' का भी उल्लेख किया है।[५] परवर्ती आचार्यों ने भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया है।[६] परन्तु नाट्यदर्पण-कार ने अपने मौलिक चिन्तन का परिचय देते हुए 'जिनवाणी' के आचा-राङ्गादि द्वादश रूपों के आधार पर भरतोक्त दश भेदों मे नाटिका और प्रकरणी को मिलाकर रूपक के द्वादश भेद स्वीकार किये हैं।[७] इन द्वादश रूपकों को भी उन्होंने वृत्तियों के आधार पर दो वर्गों में विभक्त किया है। प्रथम वर्ग में नाटक, प्रकरण, नाटिका और प्रकरणी को रखा गया है, जिनमें भारती आदि चारों वृत्तियों का प्रयोग होता है। द्वितीय वर्ग में शेष आठ रूपक आते हैं। इनमें कैशिकी को छोड़कर केवल तीन वृत्तियों का ही प्रयोग होता है। इस प्रकार वृत्तियों के आधार पर रूपकों का वर्गीकरण नाट्यदर्पणकार की अपनी मौलिक उद्भावना है।

नाट्यदर्पणकार ने नाटक का जो लक्षण दिया है, उसमें अनेक मौलिक तथ्य समाहित हैं। उन्होंने नाटक का अत्यन्त संक्षिप्त एवं सारगर्भित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्षण इस प्रकार दिया है—

ख्याताद्यराजचरितं धर्मकामार्थसत्फलम् ।
साङ्कोपाय-दशा-सन्धि-दिव्याङ्गं तत्र नाटकम् ॥[८]

अर्थात् उन रूपक भेदों में से धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिविध फलों वाला, अङ्क-उपाय-दशा-सन्धि से युक्त, देवता आदि जिसमें सहायक हों, इस प्रकार का पूर्वकालीन प्रख्यात राजाओं का चरित्र प्रदर्शित करने वाला अभिनेयकाव्य नाटक कहलाता है ।

यहां स्पष्ट है कि नाटक में केवल भूतकालीन प्रसिद्ध राजाओं के चरित्र का ही वर्णन रहता है । वर्तमान या भावी चरित्रों का अभिनय उचित नहीं होता है । वर्तमान व्यक्ति को नेता बनाने पर तत्काल-प्रसिद्धि की बाधा से रसहानि हो सकती, साथ ही पूर्वमहापुरूषों के चरितों में अश्रद्धा भी । इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि वर्तमान नेता के प्रति सामाजिकों के मन में राग-द्वेष की भावना विद्यमान हो । अतः ऐसी स्थिति में अभिनेय चरित के साथ सामाजिकों का सम्यक् प्रकार से तन्मयीभाव न हो पाने के कारण न तो उनका मनोरंजन होगा और न उन्हें कोई उपदेश ही प्राप्त हो सकेगा । फलतः नाटक के दोनों प्रधान प्रयोजन व्यर्थ हो जायेंगे । इसी प्रकार भविष्यकालीन नेता भी नाटक के लिए उपयुक्त नहीं होता क्योंकि उसका तो कोई चरित ही नहीं रहता है । अतः नाटक में केवल भूतकालीन चरित का ही अभिनय करना चाहिए ।

कुछ आचार्यों ने नाटक के लिए दिव्य एवं दिव्यादिव्य नायकों की भी कल्पना की है ।[९] परन्तु नाट्यदर्पणकार को यह मत मान्य नहीं है । उनकी दृष्टि में नायक को 'राम के समान आचरण करना चाहिए रावण के समान नहीं' इस प्रकार के सरस उपदेश देने के लिए होता है । देवताओं के लिए अत्यन्त दुःसाध्य कार्य की सिद्धि भी उनकी इच्छा मात्र से हो जाती है । इसलिए उनके चरित का अनुसरण मनुष्यों के लिए अशक्य होने के कारण उपदेशप्रद नहीं हो सकता है । इसलिए नायक में दिव्य पात्रों को नायक की सहायता के लिए ही रखना चाहिए ।

नाटक के लिए धीरोद्धतादि चतुर्विध नायकों में से किसका चयन किया जाए, इस संदर्भ में नाट्यदर्पणकार के विचार नितान्त मौलिक एवं विचारणीय हैं । धनञ्जय आदि ने नाटक के लिए केवल धीरोदात्त नायक को ही उपपुक्त माना है । परन्तु नाट्य- दर्पणकार इस मत से सहमत नहीं हैं । उनकी दृष्टि में जो लोग नाटक के नायक को केवल धीतोदात्त ही मानते हैं, वे भरतमुनि के सिद्धांत को नहीं समझते हैं और अनेक नाटकों में धीरललित आदि नायकों के भी पाये जाने से कवि-व्यवहार से भी अपरिचित प्रतीत होते हैं । इस प्रकार नाट्यदर्पणकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के विचारों में भरतमुनि के सिद्धांत और कवियों के व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से नायक में धीरोद्धत, धीरोदात्त, धीरललित और धीर प्रशान्त—चारों प्रकार के नायकों का चित्रण किया जा सकता है।

वास्तव में यदि संस्कृत-नाट्य-साहित्य पर दृष्टिपात किया जाय तो उसमें अनेक ऐसे नाटक हैं, जिनके नायक धीरोदात्त न होकर धीरोद्धत, धीरललित या धीरप्रशांत कोटि के हैं। 'वेणिसंहार' नाटक का नायक धीरोद्धत, 'नागानंद' का धीरप्रशांत और 'स्वप्नवासवदत्तम्' का नायक धीरललित रूप में वर्णित है।[११] कुछ विद्वान् 'मालविकाग्निमित्र' के नायक अग्निमित्र को भी धीरललित कोटि का मानते हैं। वस्तुतः आचार्य भरत का यह आग्रह नहीं है कि नाटक का नायक केवल धीरोदात्त या धीरललित ही होना चाहिए क्योंकि उनकी दृष्टि में चारों भेद ग्राह्य हैं। इसीलिए नाट्यदर्पणकार ने भरत के सिद्धांत और कवि-समय के आधार पर केवल धीरोदात्त ही नहीं, अपितु धीरोद्धतादि चारों प्रकार के नायकों को नाटक के लिए उपयुक्त माना है। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध नाटक 'नवविलास' के नायक नल को धीरललितरूप में ही प्रस्तुत किया है।

आचार्य भरत के अनुसार देवता धीरोद्धत तथा राजा धीरललित होते हैं। सेनापति तथा अमात्य धीरोदात्त, ब्राह्मण एवं वणिक् धीरप्रशांत होते हैं। नाट्यदर्पणकार की दृष्टि में देवता धीरोद्धत, सेनापति एवं मंत्री धीरोदात्त, वणिक् तथा ब्राह्मण धीरप्रशांत और राजा (क्षत्रिय) चारों प्रकार के स्वभाव वाले हो सकते हैं।[१७] यहां यद्यपि धीरललित का उल्लेख नहीं हुआ किन्तु व्यक्ति भेद से क्षत्रिय चारों स्वभाव के हो सकते हैं। इस कथन से क्षत्रियों में धीरललित का समावेश स्वयमेव हो जाता है।

अधिकांश नाट्याचार्यों ने अभिनय या वस्तु-निबन्धन की दृष्टि से नाटकीय कथावस्तु के दो भेद माने हैं—सूच्य और दृश्यश्रव्य।[१८] परन्तु नाट्यदर्पणकार इस मत से सहमत नहीं हैं। उन्होंने इसके चार भेदों का उल्लेख किया है—सूच्य, प्रयोज्य, अभ्यूह्य एवं उपेक्ष्य।[१९] इनमें से सूच्य और प्रयोज्य तो पुराने भेद ही हैं परन्तु अभ्यूह्य इवं उपेक्ष्य भी उपयोगी हैं। उन सूच्य और प्रयोज्य दोनों का अविनाभूत अर्थात् जिसके बिना सूच्य और प्रयोज्य भाग का उपपादन ही न हो सके, उसे अभ्यूह्य कहते हैं। यथा—अन्य स्थान पर पहुंचने के लिए अपरिहार्य गमन आदि की ऊहा (कल्पना) स्वयं ही करनी पड़ती है, क्योंकि गमन-व्यापार किये बिना दूसरे स्थान पर पहुंचना संभव नहीं है। जुगुप्सित वस्तु उपेक्ष्य कहलाती है। यथा—भोजन, स्नान, शयन, प्रस्रवण आदि। परन्तु जो प्रसंग उपयोगी एवं मनोरंजक हो अथवा जिसमें प्रबन्ध का प्रकर्ष निहित हो, उसे प्रदर्शित करना अनुचित नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाट्य-सिद्धान्त से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावली के लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत करने में भी नाट्यदर्पणकार की मौलिकता नितांत उल्लेखनीय है। वे किसी विषय को पहले सूत्ररूप में प्रस्तुत करते हैं और बाद में वृत्ति के अन्तर्गत उसकी विशद व्याख्या करते हुए विषयगत गूढ़ता को पूर्णतः स्पष्ट कर जनसाधारण के लिए भी सुबोध बना देते हैं। यह तथ्य अङ्क के लक्षण से पूर्णतः स्पष्ट है। भारत के अनुसार अङ्क रूढ़ि शब्द है। यह भावों एवं रसों द्वारा नाट्यार्थों को संवर्धित करता है। इसमें नाना प्रकार के विधानों का योग भी रहता है। इसीलिए यह 'अङ्क' कहलाता है।[२०] इस परिभाषा से अङ्क का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। अन्य आचार्यों द्वारा प्रस्तुत अङ्क का लक्षण भी अपर्याप्त एवं अस्पष्ट है। नाट्यदर्पणकार का अङ्क-लक्षण अवश्य ही अधिक स्पष्ट एवं बोधगम्य है—

अवस्थायाः समाप्तिर्वा छेदो वा कार्ययोगतः।
अङ्कः सबिन्दुर्दृश्यार्थः चतुर्यामो मुहूर्ततः॥[२१]

अर्थात् कार्य की आरम्भादि रूप अवस्था की समाप्ति या कार्यवश असमाप्त अवस्था का भी विच्छेद, जो अग्रिम अङ्क की कथा के बीज या बिन्दु से युक्त हो और एक मुहूर्त्त (४८ मिनट) से लेकर चार प्रहर (१२ घंटे) तक के दृश्यार्थ से युक्त हो तो उसे अङ्क कहते हैं। परन्तु खेद का विषय है कि नाट्यदर्पणकार द्वारा प्रस्तुत यह लक्षण प्रत्येक दृष्टि से उपयुक्त एवं अनुकरणीय होते हुए भी परवर्ती आचार्यों द्वारा ग्राह्य नहीं हुआ। जबकि उन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रस्तुत लक्षणों को स्वतन्त्र रीति से विचार करने एवं उसे व्यापक बनाने का भरपूर प्रयास किया है।

नाट्यदर्पणकार द्वारा प्रस्तुत विष्कंभक और प्रवेशक का लक्षण भी कुछ अंशों में मौलिक और उल्लेखनीय है। उन्होंने इन दोनों को 'अङ्क-सन्धायक' और 'शक्यसन्धानातीतकालवान्' कहा है।[२२] अङ्कसन्धायक का अभिप्राय यह है कि यह दो अङ्कों के बीच के कथाभाग को जोड़कर कथासूत्र को अविच्छिन्न बनाता है। शक्यसन्धानातीतकालवान् का अर्थ है कि विष्कंभक या प्रवेशक द्वारा जिन घटनाओं का वर्णन किया जाए, वे केवल उतनी ही प्राचीन होनी चाहिए, जितने का स्मरण सामान्य रूप से मनुष्य को रह सकता है। इस प्रकार विष्कंभक एवं प्रवेशक के लक्षणों में इन दो पदों को जोड़कर नाट्यदर्पणकार ने अपने मौलिक चिन्तन का जो परिचय दिया है, वह सर्वतोभावेन श्लाघ्य है।

अर्थोपक्षेपकों के प्रयोग के सन्दर्भ में उनके सुझाव नितान्त नवीन एवं उपयोगी हैं। उनके अनुसार बहुत और बहुकालव्यापी अर्थ के सूचनीय होने पर विष्कंभक और प्रवेशक का प्रयोग करना चाहिए। अल्प और अल्प-कालीन अर्थ के सूच्य होने पर अङ्कास्य का, अल्पतर और अल्पतरकालीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ की सूचना देने के लिए चूलिका का और अल्पतम व अल्पतमकालीन अर्थ के सूचनीय होने पर अङ्कावतार का प्रयोग करना चाहिए।[२३]

अर्थप्रकृतियों के लक्षण एवं नियोजन आदि के सम्बन्ध में उन्होंने बिल्कुल मौलिक ढंग से चिन्तन करने का प्रयास किया है। धनंजय आदि ने अर्थप्रकृतियों को प्रयोजन-सिद्धि का हेतु कहा है। जबकि नाट्यदर्पणकार ने उन्हें उपाय की संज्ञा से अभिहित किया है। उन्होंने अर्थप्रकृतियों का एक नवीन विभाजन भी प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार ये उपाय दो प्रकार के होते हैं—अचेतन और चेतन। बीज और कार्य अचेतन हैं जबकि विन्दु, पताका एवं प्रकरी चेतन उपाय हैं।

नाट्यदर्पणकार की सर्वाधिक उल्लेखनीय मौलिकता अर्थप्रकृतियों के प्रयोग-क्रम में दृष्टिगत होती हैं। भरत ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। परवर्ती आचार्यों ने भी उन्हीं का अनुकरण किया है। परन्तु नाट्यदर्पणकार ने उन्हें बीज, पताका, प्रकरी, बिन्दु और कार्य—इस क्रम से उल्लेख करके उनके यथारुचि प्रयोग का निर्देश किया है।[२४] उनकी दृष्टि में न तो इनका औद्देशिक निबन्धन-क्रम है और न सभी का प्रयोग ही अवश्यम्भावी है। रूपककार अपनी आवश्यकता एवं इच्छानुसार इनमें से किन्हीं का और किसी भी क्रम से उपयोग कर सकता है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह नाट्य में इनका प्रयोग इसी क्रम से करे। प्रत्येक नाटक में पताका और प्रकरी का प्रयोग भी अवश्यंभावी नहीं है क्योंकि इनकी योजना तभी की जाती है, जब नायक को अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु किसी सहायक की आवश्यकता प्रतीत होती है।

पताका और प्रकरी के लक्षणों के सम्बन्ध में भी नाट्यदर्पणकार के विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। धनञ्जय आदि ने उन्हें प्रासङ्गिक इतिवृत्त के ही दो भेद माना है। परन्तु नाट्यदर्पणकार ने नायक के सहायक एवं उससे सम्बद्ध वृत्त को पताका कहा है। वस्तुतः ऐसा किये बिना पताका को अर्थ-प्रकृति का प्रकार ही नहीं माना जा सकता है। उन्होंने पताका और प्रकरी का लक्षण इस प्रकार दिया है—

आविमर्शं पताका चेच्चेतनः स परार्थकृत्।[२५]

अर्थात् जो चेतन हेतु अपने स्वार्थ के लिए प्रवृत्त होने पर भी दूसरे अर्थात् प्रधान नायक के प्रयोजन को सिद्ध करता है, वह प्रधान नायक की प्रसिद्धि एवं प्राशस्त्य का हेतु होने से पताका सदृश गौणरूप से पताका कहलाता है। नाटक में गर्भ या विमर्श सन्धि पर्यन्त पताका नायक का चरित्र समाप्त हो जाता है अथवा वहीं तक उसके अपने फल की सिद्धि हो जाती है।

प्रकरी चेत् क्वचिद्भावी चेतनोऽन्यप्रयोजनः।[२६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् यदि स्वार्थानपेक्ष रूप से केवल अन्य अर्थात् प्रधान नायक के प्रयोजन को सिद्ध करने वाला चेतन सहायक नाट्य के अधिक भाग में व्यापक न होकर केवल एकदेशव्यापी ही हो तो उसे प्रकरी कहते हैं।

कार्यरूप अर्थप्रकृति के निरूपण में भी नाट्यदर्पणकार के विचार अत्यन्त मौलिक हैं। धनञ्जय आदि की दृष्टि में कार्य का अभिप्राय धर्म, अर्थ एवं काम रूप—पुरुषार्थ से है, जिसकी प्राप्ति हेतु नायक के कार्यारंभादि का चित्रण किया जाता है। इस प्रकार इन आचार्यों ने कार्य को ही साध्य मान लिया है जबकि कार्यरूप अर्थप्रकृति साध्य न होकर साधन है। नाट्य-दर्पणकार के अनुसार प्रारम्भावस्था के रूप में निक्षिप्त बीज को पूर्णता तक पहुंचाने वाला सैन्य-कोश-दुर्ग-सामादि उपायरूप द्रव्य, गुण, क्रिया आदि समस्त अचेतन साधनभूत अर्थ, नायक-पताकानायक-प्रकरीनायक आदि चेतनों के द्वारा साध्य की सिद्धि में विशेष रूप से प्रवृत्त कराया जाता है, इसलिए यह कार्य कहलाता है। अतः स्पष्ट है कि प्रधान लक्ष्य की प्राप्ति हेतु नायकादि का जो कार्यव्यापार चलता है और उसके लिए जो आवश्यक साधन-समुदाय है, वह सब कार्य के अन्तर्गत ही आता है। इस प्रकार प्रधान लक्ष्य की सिद्धि में बीज का सहकारी ही कार्य है।[२७]

फलागम पञ्चमी कार्यावस्था के निरूपण में भी नाट्यदर्पणकार ने कुछ मौलिक उद्भावनाएं प्रस्तुत की हैं। धनञ्जय आदि आचार्यों ने पूर्णरूप से फल की प्राप्ति को फलागम माना है।[२८] परन्तु नाट्यदर्पणकार के अनुसार नायक को साक्षात् रूप से अभीष्ट अर्थ की सम्यक् रूप से उत्पत्ति फलागम है—

'साक्षादिष्टार्थसम्भूतिर्नायकस्य फलागमः।'[२९]

यहां 'साक्षात्' और 'फलागम' शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। साक्षात् का अभिप्राय यह है कि अभीष्टार्थ की प्राप्ति दानादि से प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फल के समान दूसरे जन्म में प्राप्त होने वाले फल के रूप में नहीं, बल्कि इसी जन्म में कार्य के तुरन्त बाद होनी चाहिए। यदि नाटक में जन्मान्तरभावी फल की प्राप्ति का वर्णन होगा तो सामाजिकों को कर्तव्या-कर्तव्य का सदुपदेश नहीं प्राप्त हो सकेगा। इसलिए फल-प्राप्ति का वर्णन साक्षात् रूप से ही होना चाहिए। इसी प्रकार 'फलागम' शब्द से उन्होंने फल की पूर्णरूप से प्राप्ति नहीं, बल्कि 'फल-प्राप्ति का आरम्भ'—यह अर्थ लिया है। वस्तुतः फल की पूर्ण प्राप्ति तो अवस्था नहीं, बल्कि प्रबन्ध का मुख्य साध्य है। इसी संदर्भ में उनका एक विचार यह भी है कि आरम्भादि चारों अवस्थायें नायक के अतिरिक्त सचिव, नायिका, प्रतिनायक, दैव आदि के द्वारा भी आयोजित हो सकती हैं किंतु फलागमरूप अन्तिम अवस्था केवल नायक को ही प्राप्त होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्धि के स्वरूप के विषय में भी नाट्यदर्पणकार के विचार सर्वथा मौलिक एवं उपादेय हैं। धनञ्जय आदि ने बीज आदि पांच अर्थप्रकृतियों का आरम्भादि पांच अवस्थाओं के साथ यथाक्रम योग होने पर क्रमशः मुख आदि पांच सन्धियों का आविर्भाव माना है।[30] जबकि नाट्यदर्पणकार की दृष्टि में संधि पञ्चक के लिए अवस्थापञ्चक का उपनिबन्धन तो आवश्यक है, परन्तु अर्थप्रकृतियों का नहीं। ये पांचों सन्धियां आरम्भादि अवस्थाओं से अनुगत रहती हैं।[31] वस्तुतः यदि धनञ्जय आदि के मत को मान लिया जाय तो अनेक विप्रतिपत्तियां आ सकती हैं। उनके सिद्धांत के अनुसार गर्भ सन्धि में पताका नामक अर्थप्रकृति एवं प्राप्त्याशा नामक अवस्था होनी चाहिए। परन्तु पताका की स्थिति वैकल्पिक होती है, जिसे स्वयं धनञ्जय ने भी स्वीकार किया है। जब गर्भ सन्धि के लिए पताका का प्रयोग ही आवश्यक नहीं है, तब अर्थप्रकृतियों एवं अवस्थाओं के योग से सन्धियों के अविर्भाव होने का सिद्धांत ही दुर्बल हो जाता है। धनञ्जय के अनुसार पताका के बाद प्रकरी आती है, परन्तु रामकथा में सुग्रीव वृत्त पताका के पूर्व ही शबरी एवं जटायु वृत्त रूप प्रकरी का प्रयोग हुआ है। ऐसी स्थिति में सन्धियों के अन्तर्गत अर्थप्रकृतियां एवं अवस्थाओं का क्रमशः सम्बन्ध कैसे सम्भव है। इसके अतिरिक्त रूपक में पताका और प्रकरी का प्रयोग भी नितान्त आवश्यक नहीं है क्योंकि इन दोनों के अभाव में भी रूपक-रचना हो सकती है। वस्तुतः जहां नायक को इस प्रकार के सहायक की अपेक्षा रहती है केवल वहीं पर पताका और प्रकरी की योजना की जाती है। जब इन अर्थप्रकृतियों का प्रयोग ही अनिवार्य नहीं है, तब इन्हें सन्धि के लिए आवश्यक कैसे माना जा सकता है? अतः स्पष्ट है कि संधियों के लिए अर्थप्रकृतियों का सन्निवेश आवश्यक नहीं है। इस संदर्भ में नाट्य-दर्पणकार का मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि सन्धियां आरम्भादि अवस्थाओं का अनुगमन करती हैं और उन्हीं के अनुसार क्रमशः मुखादि पांच सन्धियां होती हैं।

प्रतिमुख सन्धि के लक्षण में भी उन्होंने कुछ मौलिक उद्भावनायें व्यक्त की हैं। धनञ्जय प्रभृति आचार्यों के अनुसार जहां बीज का कुछ लक्ष्य रूप में और कुछ अलक्ष्य रूप में उद्भेद होता है, वहां प्रतिमुख संधि होती है।[32] जबकि नाट्यदर्पणकार की दृष्टि में मुखसन्धि में गूढ़ रूप से स्थापित जो बीज कभी लक्ष्य और अलक्ष्य रूप से था, उसी का जहां उद्-घाटन या प्रबल रूप से प्रकाशन होता है, वहां प्रतिमुखसन्धि होती है।[33] यहां स्पष्ट हैं कि धनञ्जय ने बीज के लक्ष्यालक्ष्य रूप को प्रतिमुख सन्धि में माना है, जबकि नाट्यदर्पणकार की दृष्टि में बीज की यह स्थिति मुख-सन्धि में होती है, न कि प्रतिमुख सन्धि में। उनकी दृष्टि में तो प्रतिमुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्धि में बीज का प्रबल रूप से प्रकाशन हो जाता है।

नाट्यदर्पणकार का एक मौलिक विचार प्रकरण के लक्षण में आया है। धनञ्जय प्रभृति आचार्यों के अनुसार प्रकरण में धीरप्रशान्त स्वभाव वाले, अमात्य, विप्र और वणिक् में से कोई एक नायक रखना चाहिए। परन्तु नाट्यदर्पणकार की दृष्टि में अमात्य के साथ धीरप्रशांत विशेषण लगाना उचित नहीं है। उन्होंने स्पष्टतः कहा है कि जो अमात्य को नायक मानकर 'धीरप्रशांत-नायक वाला रूपक प्रकरण होता है', इस प्रकार जो प्रकरण को विशेषित करते हैं, वे वृद्धसम्प्रदाय को नहीं समझते, क्योंकि भरत की दृष्टि में सेनापति और अमात्य धीरोदात्त माने जाते हैं। यद्यपि इस समय नाट्यशास्त्र की जो प्रति उपलब्ध है, उसमें भरत ने भी प्रकरण में उदात्त नायक का निषेध किया है।[३४] इससे यही प्रतीत होता है कि नाट्यदर्पणकार के पास नाट्यशास्त्र की जो प्रति थी उसमें उदात्त नायक का निषेध न रहा होगा, तभी तो उन्होंने अपने मत को भरत-मत के अनुरूप बताया है। अथवा इस स्थल पर उन्होंने भरत के कथन में वदतोव्याघात दोष दिखाकर उनके मत का भी परिष्कार करने का प्रयास किया हो। कारण कुछ भी हो किन्तु इस स्थल पर नाट्यदर्पणकार का विचार सर्वथा मौलिक एवं विचारणीय है।

तृतीय विवेक में प्ररोचना का लक्षण करते समय नाट्यदर्पणकार ने भरत-मत से मतभेद प्रकट करते हुए अपने एक नवीन विचार को प्रस्तुत किया है। उन्होंने भरत द्वारा बताये गये पूर्वरङ्ग के उन्नीस अङ्गों में से केवल एक अङ्ग प्ररोचना को ही ग्राह्य माना है और शेष को छोड़ दिया है। उनकी दृष्टि में भरतोक्त ये उन्नीसों अङ्ग स्वतः लोकप्रसिद्ध हैं, उनका वर्णन-क्रम निष्फल है तथा उनका फल विविध देवताओं के परितोषरूप व श्रद्धालुप्रतारण मात्र है। इसलिए वे उपेक्षणीय हैं। परन्तु प्ररोचना तो पूर्वरंग का अङ्ग होने पर भी नाट्य में प्रवृत्त कराने में प्रमुख है।[३५]

वृत्ति-निरूपण के प्रसङ्ग में भी नाट्यदर्पणकार ने अपनी मौलिक उद्भावनायें प्रस्तुत की हैं। उन्होंने चारों वृत्तियों के नामों की व्युत्पत्ति इस प्रकार प्रस्तुत की है—

(अ) भारती=भारतीरूपत्वाद् व्यापारस्य भारतीति।

(ब) सात्त्वती=सत् सत्वं प्रकाशः, तद्यत्रास्ति तत् सत्त्वं मनः, तत्र भवा सात्त्वती। संज्ञाशब्दत्वेन बाहुलकात् स्त्रीत्वम्।

(स) कैशिकी=अतिशायिनः केशाः सन्त्यासामिति केशिकाः स्त्रियः। ..... तत्प्रधानत्वात् तासामियं कैशिकी।

(द) आरभटी=आरेण प्रतोदकेन तुल्या भटा उद्धताः पुरुषा आरभटाः। ते सन्त्यस्यामिति 'ज्योत्स्नादित्वादणि' आरभटी।[३६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त भारती आदि शब्दों की व्युत्पत्ति नाट्यदर्पणकार की मौलिक सूझ है। अधिकांश आचार्यों ने भारती आदि चतुर्विध वृत्तियों के चार-चार भेद स्वीकार किये हैं परन्तु नाट्यदर्पणकार ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने भारती वृत्ति के दो अङ्गों—'आमुख व प्ररोचना' और कैशिकी के केवल एक भेद 'नर्म' का ही उल्लेख किया है, शेष को छोड़ दिया है।

नाट्यदर्पणकार की सर्वाधिक उल्लेखनीय मौलिकता उनके रस-विवेचन के प्रसङ्ग में प्राप्त होती है। उन्होंने सभी रसों को सुखात्मक और दुःखात्मक रूप दो वर्गों में विभक्त करके प्रथम वर्ग में इष्ट विभावादि से उत्पन्न होने वाले शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत व शांत रस को और द्वितीय वर्ग में अनिष्ट विभावादि से उत्पन्न करुण, रौद्र, बीभत्स एवं भयानक रस को परिगणित किया है। उनकी दृष्टि में सभी रस सुखात्मक न होकर दुःखात्मक भी होते हैं। सभी रसों को सुखात्मक मानने वाले आचार्यों के मत का खण्डन करने के लिए उन्होंने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं[3*]—

१. जो आचार्य सभी रसों को पूर्णतः सुखात्मक मानते हैं, वह प्रतीति के विपरीत होने से असङ्गत है। मुख्य विभावों से उत्पन्न करुणादि की दुःखमयता की बात छोड़िए काव्याभिनव में प्राप्त कृत्रिम विभावादि से उत्पन्न भयानकादि रस भी सामाजिकों में कुछ अनिर्वचनीय क्लेश-दशा को उत्पन्न कर देते हैं। इसलिए भयानकादि रसों से सामाजिक उद्वेजित हो जाते हैं। यदि सभी रस सुखात्मक होते तो साभाजिक उनसे उद्वेजित न होते। अतः करुणादि रस दुःखात्मक ही होते हैं।

२. इन करुणादि रसों से भी सामाजिकों को जो चमत्कार दिखलायी पड़ता है, वह कवि की प्रतिभा और नट की अभिनय-कुशलता के कारण होता है। कौशलजन्य चमत्कार के द्वारा बुद्धिमान् लोग भी दुःखात्मक करुणादि रसों में भी परमानन्द की अनुभूति करने लगते हैं। जबकि वह वास्तव में सुखरूप नहीं है, क्योंकि सीता-हरण, द्रौपदी-कचाम्बराकर्षण, रोहिताश्व-मरण, लक्ष्मण-शक्तिभेदन आदि दृश्यों को देखने से सहृदयों को सुखास्वाद कैसे हो सकता है?

३. दुःखात्मक भावों का अनुकरण दुःखात्मक ही होता है। अनुकरण-क्रम में यदि अनुकार्यगत दुःखात्मक करुणादि को सुखात्मक माना जाए तो वह अनुकरण यथार्थ नहीं होगा। अतः करुणादि रसों को सुखात्मक मानना उचित नहीं है।

४. इष्टजनों के विनाश से उत्पन्न करुण रस के अभिनय में जो सुखास्वाद होता है, वह भी परमार्थतः दुःखास्वाद ही है। दुःखी व्यक्ति के सामने यदि दुःख का वर्णन या अभिनय किया जाय तो उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सान्त्वना मिलने के कारण सुख का अनुभव होता है किन्तु प्रमोद-वार्ता से वह उद्विग्न ही होता है। इसलिए करुणादि रसों को दुःखात्मक मानना पड़ेगा।

विप्रलम्भ शृंङ्गार में भी दुःख का वर्णन होता है किन्तु उसे दुःखात्मक नहीं माना जा सकता है क्योंकि विप्रलम्भ शृङ्गार में पुनर्मिलन की संभावना बनी रहती है। इसलिए उसे सुखात्मक रस कहा गया है।

इस प्रकार नाट्यदर्पणकार का रस-सिद्धांत अन्य आचार्यों से नितांत भिन्न है। अन्य आचार्यों ने इसकी कटु आलोचना भी की है परन्तु इस सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि में भयानक आदि केवल दुःखात्मक न होकर सुखदुःखात्मक हैं अथवा यों कहिए कि दुःखसुखात्मक हैं। पूर्वस्थिति में ये दुःखात्मक हैं और अन्तिम स्थिति में सुखात्मक। वस्तुतः कोई भी विद्वान् उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ के अवलोकन के उपरांत यह मानने को कदापि उद्यत न होगा कि उन जैसे तत्त्ववेत्ता और चिंतक आचार्य करुण आदि को केवल दुःखात्मक ही मानते होंगे। वह इसे दुःखात्मक मानते अवश्य होंगे किन्तु पूर्वस्थिति में, और अन्ततः वे उन्हें सुखात्मक ही मानते होंगे।[१८]

नाट्यदर्पणकार ने रसानुभूति के पांच आधार स्वीकार किये हैं—

(i) लोक अर्थात् लौकिक रूप में स्थित पुरुष, (ii) नट, (iii) काव्य या नाट्य के श्रोता, (iv) अनुसन्धाता अर्थात् कवि या नाटककार और (v) प्रेक्षक अर्थात् सामाजिक। इनमें से प्रथम चारों को तो प्रत्यक्षरूप से और सामाजिक को परोक्ष रूप से रसानुभूति होती है। इसके अतिरिक्त प्रेक्षकादि में रहने वाला रस अलौकिक और शेष में लौकिक होता है।

नाट्यदर्पणकार ने भी अन्य आचार्यों की भांति रस के मूलतः नौ भेद ही स्वीकार किये हैं परन्तु गर्द्धस्थायी लौल्यरस, आर्द्रतास्थायी स्नेहरस, आसक्तिस्थायी व्यसनरस, अरतिस्थायी दुःखरस और सन्तोषस्थायी सुखरस का भी उल्लेख किया है।[१९] इस प्रकार नाट्यदर्पणकार ने रस-विवेचन के प्रङ्गग में एक नवीन सिद्धांत की स्थापना की। यह सिद्धांत अन्य आचार्यों को भले ही मान्य न हो किन्तु वह मौलिक एवं विचारणीय अवश्य है।

नान्दी में प्रयुक्त पदों की संख्या के विषय में प्रायः सभी आचार्य एक मत नहीं हैं। भरत और विश्वनाथ ने इसे अष्टपदा या द्वादशपदा माना है। रसार्णवसुधाकर एवं अग्निपुराण में दशपदा और प्रतापरुद्रयशोभूषण में बाईसपदा नान्दी का उल्लेख हुआ है। परन्तु नाट्यदर्पणकार ने षड्पदा या अष्टपदा नान्दी का वर्णन किया है।[२०] यहां नित्य का अभिप्राय यह है कि सभी रूपकों में नान्दी का एक ही स्वरुप होता है अथवा सभी रूपकों में इसका प्रयोग अवश्यम्भावी है या जितने दिन तक रूपक का अभिनय हो,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उतने दिन तक प्रतिदिन इसका प्रयोग होता है। 'नित्या' पद की ऐसी व्याख्या रामचंद्र-गुणचंद्र की मौलिक सूझ है।

भारतीय नाट्याचार्यों ने रूपक के गेय-पदों को 'ध्रुवा' की संज्ञा से अभिहित किया है। परन्तु नाट्यदर्पणकार ने कवि अर्थात रूपककार के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इन्हें 'कविध्रुवा' की संज्ञा प्रदान की है।[४१]

नायिका-निरूपण के प्रसङ्ग में भी आचार्यों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है। भरत के अनुसार नायिकायें चार प्रकार की होती हैं— दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री और गणिका। परवर्ती आचार्यों को यह वर्गीकरण स्वीकार्य नहीं है। इसीलिए धनञ्जय, विश्वनाथादि ने नायिका के तीन ही भेद माने हैं—स्वीया, अन्या और सामान्या। नाट्यदर्पणकार ने इनसे पृथक् मत व्यक्त करते हुए चार भेद किये हैं—कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया एवं पण्यकामिनी। इनमें से कुलजा विप्र— वणिगादिकुलसम्भूत और केवल उदात्ता होती है। दिव्या और क्षत्रिया के तीन-तीन भेद हैं—धीरा, ललिता और उदात्ता। पण्यकामिनी (वेश्या) भी ललित और उदात्ता होती है।[४२] इस प्रकार नायिकाओं के कुल (कुलजा=विप्रवणिक्=२, दिव्या=३, क्षत्रिया=३, पण्यकामिनी=२) दस भेद हो जाते हैं।

धनञ्जय आदि ने केवल स्वीया नायिका के लिए ही मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा भेद स्वीकार किये है। परन्तु नाट्यदर्पणकार ने कुलजा आदि समस्त प्रकार की नायिकाओं के लिए मुग्धा, मध्या एवं प्रगल्भा भेद की कल्पना की है।[४३] वस्तुतः यह भेद तो नायिका के वय एवं प्रेमानुभव के आधार पर उनकी स्वाभाविक स्थिति परिकीया और सामान्या आदि नायिकाओं में भी कल्पित की जा सकती है। इस स्थल पर नाट्यदर्पणकार के विचार निसन्देह महत्वपूर्ण एवं ग्राह्य हैं जिसमें उन्होंने कुलजादि सभी के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा भेद स्वीकार किये है। इस प्रकार उपर्युक्त दशविध नायिकाओं के कुल (मुग्धा १०+मध्या ३०+प्रगल्भा ३०) सत्तर भेद हो जाते हैं। ये सभी अवस्था भेद से आठ-आठ प्रकार की होने से नायिकाओं के कुल ५६० भेद हो जाते हैं। इनके भी उत्तमादि भेद से १६८० भेद हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाट्यदर्पणकार—रामचंद्रसूरि एवं गुणचंद्रगणि अत्यन्त साहसी एवं मौलिक प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। उन्होंने नाट्यदर्पण में नाट्य सम्बन्धी सामग्री का नवीन ढंग से विश्लेषण किया और अपने पूर्ववर्ती समस्त नाट्याचार्यों के मतों का यथावश्यक खण्डन या संशोधन कर अनेक मौलिक उद्भावनायें प्रस्तुत कीं। उन्होंने केवल धनञ्जय या सागरनन्दी के मतों का ही नहीं, अपितु आचार्य भरत के मतों का भी खंडन करने में किञ्चित् संकोच नहीं किया और बडे गर्व के साथ अपनी रचना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को मौलिक होने का दावा किया है। यही कारण है कि सम्पूर्ण नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'नाट्यदर्पण' का विशिष्ट स्थान है। □

सन्दर्भ—

१. आचार्य विश्वेश्वर सिद्धांतशिरोमणि, हिन्दी नाट्यदर्पण (हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली १९६१), भूमिका पृष्ठ २०।

२. नि नाट्यदर्पण ऑफ रामचंद्र ऐण्ड गुणचन्द्र : ए क्रिटिकल स्टडी (एल०डी० इन्स्टीच्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद, १९६६) पृष्ठ २१९।

३. महाकविनिबद्धानि दृष्ट्वा रूपाणि भूरिशः।
स्वयं च कृत्वा, स्वोपज्ञं नाट्यलक्ष्म विवृण्वहे ।।
—हिन्दी नाटयदर्पण, अवतरणिका, श्लोक २।

४. हिन्दी नाट्यशास्त्र, २०।२-३ [आचार्य भरत, सम्पादक एवं हिन्दी व्याख्याकार, प्रो० बाबूलाल शुक्ल, श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २१५, वाराणसी, भाग १-४, सन् १९७२, १९७८, १९८३ १९८५]।

५. वहीं, २०।१, २०।६०-६३।

६. दशरूपक, १।८, भावप्रकाशन, सप्तम अधिकार, रसार्णवसुधाकर, ३।३, साहित्यदर्पण, ६।३ [दशरूपक-धनञ्जय, डॉ० श्रीनिवास शास्त्री, साहित्यभण्डार, मेरठ, १९८३। भावप्रकाशन, शारदातनय, यदुगिरि यतिराज स्वामी, गा०औ०सी०, बड़ौदा, १९६८। रसार्णवसुधाकर, शिंगभूपाल, सम्पा टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज १९१६। साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, व्याख्या, शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८६।]

७. हिन्दी नाट्यदर्पण, १।१-४

८. वही, १।५

९. दश० ३।२३, रसा० सुधा० ३।१३०, सा० द० ६।९

१०. हि. ना. द. १।५ की वृत्ति

११. दश. ३।२२, भा. प्र. पृष्ठ २३३, सा. द. ६।७-९

१२. ये तु नाटकस्य नेतारं धीरोदात्तमेव प्रतिजानते न ते मुनिसमयाध्यवगाहिनः। नाटकेषु धीरललितादीनामपि नायकानां दर्शनात् कविसमयबाह्याच।
—हि. ना. द. १।७ की वृत्ति

१३. भरत और भारतीय नाट्यकला (डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, राजकमल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशन, प्रा.लि. दिल्ली १९७०) पृष्ठ १२६

१४. हिन्दी साहित्यकोश, भाग १, पृष्ठ ४३०, (सम्पादक डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, वाराणसी ज्ञानमण्डल लिमिटेड, सं० २०२०)

१५. लाज ऐण्ड प्रैक्टिश ऑफ संस्कृत ड्रामा (डॉ० एस.एन. शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, आफिस, वाराणसी) पृष्ठ ६

१६. (क) नलविलासनाटकम्—रामचन्द्रसूरी, अङ्क १, श्लोक २, ६ (सेण्ट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा १९२६)

(ख) हि.ना.द. १।१८ की वृत्ति

(ग) नलविलास : एक आलोचनात्मक अध्ययन— डॉ० कृष्णपाल त्रिपाठी, अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, कानपुर वि.वि. कानपुर १९९२, पृष्ठ २११

१७. हि. ना. शा. ३४।१९-२०

देवा धीरोद्धता, धीरोदात्ताः सैन्येशमन्त्रिणः
धीरशान्ता वणिग्विप्राः, राजानस्तु चतुर्विधाः ।।

—हि. ना. द. १।७

१८. दश. १।५६,

१९. हि. ना. द. १।१०-११

२०. हि. ना. शा. २०।१४

२१. हि. ना. द. १।१९

२२. वही, १।२३-२५

२३. आद्यौ सूच्ये बहावन्ये क्रमादल्पे तरे तमे ।
वही, १।२७

२४. हि. ना. शा. २१।२०, दश. १।१८, भा. प्र., पृष्ठ २०४-२०५, सा. द. ६।६४-६५

बीजं पताका प्रकरी बिन्दुः कार्यं यथारुचि ।
फलस्य हेतवः पञ्च चेतना चेतनात्मकाः ।।

—हि. ना. द. १।२८

२५. वही, १।२९

२६. वही, १।३२

२७. दश. १।१६, हि. ना. द. १।३३ पूर्वार्ध एवं वृत्ति

२८. दश. १।२२, भा. प्र., पृष्ठ २०६, सा. द. ६।७३

२९. हि. ना. द. १।३६

३०. दश. १।२२-२३, भा. प्र. पृष्ठ २०८, सा. द. ६।७४

३१. हि. ना. द. १।३७ एवं वृत्ति

३२. दश. १।३०, सा. द. ६।७७-७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३. हि. ना. द. १।३८ उत्तरार्ध एवं वृत्ति
३४. हि. ना. शा. २०।४३, दश. ३।४०, भा. प्र. पृष्ठ २४१, सा. द. ६।२२४-२२५, हि. ना. द. १।१-२, एवं वृत्ति
३५. हि. ना. द. ३।४ उत्तरार्ध एवं वृत्ति
३६. वही, ३।१-६ की वृत्ति
३७. वही, ३।७ एवं वृत्ति
३८. द्रष्टव्य, हि. ना. द., सम्पादकीय, पृष्ठ ८५
३९. वही, ३।९ की वृत्ति
४०. हि. ना. शा. ५।१०५, सा. द. ६।२५, रसा. सुधा. तृतीय अध्याय, अग्निपु. ३३८।९१०, प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृष्ठ १३१-३२, हि. ना.द. ४।१ एवं वृत्ति
[प्रतापरुसयशोभूषण, विद्यानाथ, बम्बई, १९०९
अग्निपुराण-व्यास, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना १९००]
४१. हि. ना. द. ४।२
४२. हि. ना. शा. ३४।२६, दश. २।१५, भा. प्र. पृष्ठ ९४, सा. द. ३।५६, ना. द. ४।१९
४३. दश. २।१५, भा. प्र. पृष्ठ ९४, सा. ३।५७, हि. ना. द. ४।२१ पूर्वार्ध । □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न-व्याकरण में अहिंसा का स्वरूप

☐ डा० हरिशंकर पाण्डेय

प्राचीनकाल से ही विश्व के लगभग सभी उत्कृष्ट दार्शनिकों, आचार्यों, विचारकों एवं कोशकारों ने अहिंसा की व्याख्या की है, क्योंकि संसार में यह एक ऐसा निकेतन है, जहां हर कोई शांति एवं समत्व को प्राप्त करता है। वैदिक, जैन, बौद्ध, चार्वाक, इसाई, इस्लाम आदि सभी धर्मों में इसके स्वरूप एवं सार्वजनीन महत्त्व की स्वीकृत दी गई है अहिंसा एक ऐसा तत्त्व है जिसको सबने अविसंवादी रूप से स्वीकारा है। यह भी कहा जा सकता है कि अहिंसा एक ऐसा संगम है जहां पर जाकर विपरीत दिशाओं में बहने वाली सभी धाराएं एकाकार हो जाती हैं।

नञ् पूर्वक 'हिसि (हिंस्) हिंसायाम्'[3] धातु से अङ् (अ) और स्त्री-लिंग में टाप् करने पर अहिंसा शब्द निष्पन्न होता है। कायिक, वाचिक एवं मानसिक हिंसा का सर्वथा अभाव अहिंसा है। द्रव्य एवं भावरूप हिंसा का पूर्णतया निरसन अहिंसा है। मोनीयर विलियम्स[4] के अनुसार अहिंसा का अर्थ है–**Not injuring anything, harmlessness, security, safeness etc.**

आप्टे की दृष्टि में 'अनिष्टकारिता का अभाव, किसी प्राणी को न मारना, मन, वचन और कर्म से किसी को पीड़ा न देना आदि अहिंसा है।'[5] न हिंसा, अहिंसा या हिंसा विरोधिनी अहिंसा है। प्रमाद एवं कषायों के वशीभूत होकर दस-प्राणों में से किसी भी प्राण का वियोग न करना अहिंसा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि हिंसा का अभाव अहिंसा है। यहां केवल एक निषेधात्मक पक्ष की व्याख्या हुई। अहिंसा के दो रूप हैं— निषेधात्मक एवं विधेयात्मक। अहिंसा में प्रयुक्त 'अ' नञ् का रूप हैं जिसके दो अर्थ होते हैं—

द्वौ नञौ समाख्यातौ पर्युदास प्रसज्यकौ।
पर्युदास सदृशग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्॥[6]

अर्थात् 'नञ्' के दो अर्थ होते हैं—पर्युदास और प्रसज्य। पर्युदास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सदृशग्राही और प्रसज्य निषेधग्राही है। यथा 'अब्राह्मणो गच्छति' कहने से ब्राह्मण का निषेध हो जाता है, साथ ही तत्सदृश क्षत्रियादि—जो आरोपित ब्राह्मणत्व वाले हैं, उनका ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार 'अहिंसा शब्द से प्राणव्यारोपण रूप हिंसा का निषेध हो जाता है लेकिन 'अ' से अहिंसा के सदृश दया, करुणा, मुदिता, मैत्री आदि भावों का ग्रहण भी होता है। ये सादृश्य-भाव अहिंसा को पुष्ट करते हैं या अहिंसा के फलित रूप भी हो सकते हैं।

संसार का आद्यग्रंथ ऋग्वेद, अहिंसा के धरातल पर ही अवस्थित है। ऋषि की दृष्टि में मनुष्य का प्रथम एवं श्रेष्ठ कर्त्तव्य है—एक दूसरे की रक्षा करना अर्थात् हिंसा का सर्वथा परित्याग। ऋग्वेद-ऋषि कहता है—

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः।[५]

ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त अहिंसा की सर्वाङ्गीण व्याख्या है—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते॥[६]

यजुर्वेद के ऋषि विश्वमैत्री की उद्घोषणा करते हैं—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।[७]
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

अथर्ववेद में पारस्परिक सद्भावना—जिसका अभाव ही हिंसा का मूल है, पर अधिक बल दिया गया है—

१. तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥[८]
(हम सभी ऐसी प्रार्थना करें जिससे आपस में सुमति और सद्भावना का प्रसार हो)।

२. यांश्च पश्यामि यांश्चन तेषु मां सुमतिं कृधि।[९]
(भगवन् आपकी कृपा से परिचितापरिचित सभी जीवों के प्रति सद्भावना सम्पन्न होऊं)।

ऋग्वेद में ऋषि सूर्य से प्रार्थना करता है कि सूर्य की किरणें एवं संपूर्ण दिशाएं हम जीव मात्र के लिए शान्तिदायिनी हों—

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु।
शं नश्चतस्र प्रदिशो भवन्तु॥[१०]

इसी प्रकार यजुर्वेद के एक स्थल पर सम्पूर्ण त्रस-स्थावर जाति के लिए शान्ति-कामना की गई है—

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः
विश्वेदेवाः शान्तिः ब्रह्मशान्तिः सर्वं शान्ति शान्तिरेधि।[११]

उपनिषद्-साहित्य को अहिंसा का ग्रंथ-संग्रह कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि वही व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहरहित एवं शोकवियुक्त हो सकता है जो सर्वभूतमात्र में समानता रखता हो, सबमें ब्रह्मभाव का दर्शन करता हो—

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।[12]

× × ×

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥[13]

प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में अहिंसा को आत्मसंयम का प्रमुख साधन माना गया है और कहा गया है कि स्मृति, दया, शान्ति एवं अहिंसा सम्पन्न गृहस्थ पत्नी के अभाव में भी यज्ञाधिकारी हो सकता है—

स्मृतिदयाशान्तिऽहिंसापत्नी संजायाः ।[14]

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार अहिंसक व्यक्ति जन्म-मरण के भय से मुक्त होकर ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित हो जाता है ।[15] अन्यत्र आत्मोपासना प्रसंग में तप, दान, आर्जव एवं सत्यवचन के साथ अहिंसा को आत्म यज्ञ की दक्षिणा कहा है अर्थात् अहिंसा रूप दक्षिणा के बिना आत्म यज्ञ की पूर्णता हो ही नहीं सकती है—

'अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा
सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा ।

आरुणिकोपनिषद् में ब्रह्मचर्य एवं अहिंसादि व्रतों की रक्षा पर विशेष बल दिया गया है—

ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन
हे रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षत इति ।[16]

मनु-स्मृतिकार ने अहिंसा को चारों वर्णों के लिए आवश्यक, परम पद का साधक एवं श्रेष्ठ सामायिक धर्म कहा है ।[17] महर्षि वाल्मीकि ने आनृशंस्य, अनुक्रोश, श्रुत, शील, दम और शम को पुरुष का विभूषण बताया है ।[18] व्यासदेव ने महाभारत में अहिंसा की सर्वाङ्गपूर्ण व्याख्या की है । उनके अनुसार वही व्यक्ति अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है जो सर्वभूत कल्याणरत हो ।[19] अहिंसा को सकलधर्म, परमधर्म, श्रेष्ठधर्म, व्रत, यज्ञ, परमफल, परममित्र एवं सभी तीर्थों तथा दानों में श्रेष्ठ माना गया है—

अहिंसा परमो धर्मस्तथा हिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्
अहिंसा परमं मित्रं अहिंसा परमं सुखम् ॥[21]

पुराणों एवं अन्य महाकाव्यों में अहिंसा पर विस्मृत प्रकाश डाला गया है । वायु पुराण में अहिंसा के सर्वात्मना पालन का आदेश दिया गया है—

अहिंसा सर्वभूतानां कर्मणा मनसा गिरा ।[22]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भागवत पुराण में अहिंसा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। वहां पर ब्रह्म प्राप्ति के अठारह साधनों में से अहिंसा को एक माना है।[२१]

योगदर्शन के अष्टांग में प्रथम परिगणित यम के अन्तर्गत अहिंसा सर्वप्रथम है। महाव्रतों में इसे प्रथम परिगणित किया गया है—

अहिंसा सत्यं अस्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः।
जाति देशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमाः महाव्रतम्।[२४]

अहिंसा की प्रतिष्ठा से वैर का सर्वथा अभाव हो जाता है। अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।[२५] सांख्याचार्य हिंसा का निषेधकर व्यक्त अव्यक्त एवं ज्ञ रूप २५ तत्त्वों के ज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानते हैं।[२६] आचार्य-शंकर ने भी हिंसा का पूर्ण-निषेध किया है।

बौद्ध-दार्शनिकों ने शील के अन्तर्गत अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया है।[२७] बौद्ध-ग्रंथों में अहिंसा के विधेयात्मक रूप मैत्री, मुदिता, करुणा उपेक्षा आदि पर प्रभूत बल दिया गया है। जो शरीर, मन और वचन से हिंसा का सर्वथा परित्याग करता है, तथा किसी भी जीव को प्रताड़ित नहीं करता वही सच्चे अर्थ में अहिंसक है।[२८] जो अहिंसा में रत रहता है वह उच्च पद को प्राप्त करता है। बोधिसत्त्व वही हो सकता है जो अहर्निश सर्वभूत कल्याणरत रहता है।[२९] बोधि चर्यावतार में विश्वमैत्री किंवा जीव मैत्री पर बल दिया गया है।

जैन दर्शन का तो मूलाधार ही अहिंसा है। जैन दार्शनिकों ने अहिंसा की सर्वाङ्गपूर्ण व्याख्या की है। इसे श्रेष्ठ धर्म माना गया है—

'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।'[३०]

सव्वेपाणा सव्वेभूता सव्वेजीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए।[३१]

'प्रश्न व्याकरण' में अहिंसा

'प्रश्न व्याकरण' का ऋषि अहिंसा पूर्व हिंसा के स्वरूप का प्रतिपादन करता है।[३२] जैन वाङ्मय में अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर अहिंसा की प्रतिष्ठापना के निमित्त हिंसा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। यथा—

१. रागादि की उत्पत्ति हिंसा है—

तेसिं चे उत्पत्ती हिंसेति जिणेहि णि द्दिट्ठा।[३३]
'रागाद्यत्पत्तिस्तु निश्चयो हिंसा'[३४]
अर्थात् रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मोव्रतच्युतिः।[३५]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **प्राणव्यारोपण हिंसा है**—

'प्रमयोगात् प्राणव्यारोपणं हिंसा'[३६] अर्थात् प्रमादयुक्त जीव, काय, वचन एवं मनोयोग द्वारा प्राण व्यारोपण करता है, उसको हिंसा कहते हैं। मारण, प्राणातिपात, प्राणवध, देहान्तर संक्रमण, प्राणव्यारोपण आदि हिंसा के समानार्थक शब्द हैं।[३७] बाह्यांग छेदन को प्राण व्यारोपण कहते हैं।[३८] कषायों के उदय से मन, वचन, कायादि द्वारा द्रव्य-भाव रूप दोनों प्राणों को घात करना हिंसा है—

यत्खलु योगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यारोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥[३९]

३. **द्वेषिकी, कायिकी, प्राणघातिकी, पारितापिकी, क्रियाधिकरणी आदि** पांच प्रकार की क्रियाओं को हिंसा कहते हैं—

पादोसिय अधिकरणीय कायियपरिदावणादिवादाए।[४०]
एदे पंचपओगा किरिआओ होंति हिंसाओ॥

हिंसा के चार भेदों का उल्लेख मिलता है—संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी एवं विरोधी। संकल्पी हिंसा प्रमादयुक्त होकर जान बूझकर की जाती है। अर्थोपार्जन निमित्त उद्योगी, घरेलु कार्यों में होने वाली आरम्भी एवं युद्धादि में होने वाली विरोधी हिंसा है। मुनि-महाव्रती के लिए ये चारों त्याज्य हैं। लेकिन गृहस्थ के लिए सर्वथा परित्याग संभव नहीं है। सूत्रकृतांग, उपासक दशाध्ययनादि ग्रंथों में मन, वाणी और शरीर तीनों से हिंसा नहीं करने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। प्रश्न व्याकरण में हिंसा को प्रथम आश्रव (अधर्म) द्वार कहा गया है—'पढमं अधम्मदारं।'[४१] वहीं पर प्राणबध को चंड, रुद्र क्षुद्र, साहसिक, अनार्य, निर्घृण, नृशंस, महाभय, प्रतिभय, अतिभय, भयानक, त्रासक, उद्वेजक, निरपेक्ष, निर्धर्म, निष्पिपास आदि कहा गया है।[४२] कुल तीस पर्याय शब्दों का निर्देश भी प्राप्त होता है।[४३]

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि मन, वचन, काय से षट्कायिक जीवों को मारना, कष्ट देना या अपकार करना हिंसा है। इसका परित्याग एवं दया करुणा, अनुकम्पा आदि का विकास अहिंसा है।

भगवती अहिंसा—शिवरूप, प्रसन्नता, सम्पन्नता, समृद्धि, श्रेष्ठता, उत्कर्ष ज्ञान, वैराग्य एवं वीर्यादि को भग कहते हैं जो भग से पूर्ण हो वह (स्त्रीलिङ्ग में) भगवती है 'ज्ञानधर्ममाहात्म्यानि भगः सोऽस्यास्तीति भगवान् स्त्रीलिङ्गे भगवतीति। अर्थात् ज्ञान-धर्म के माहात्म्य को भग कहते हैं, वह जिसमें है वह भगवान् है (स्त्रीलिङ्ग में भगवती होता है)। अहिंसा भग—ऐश्वर्य की दात्री है इसलिए इसे भगवती कहा गया हैं। यह प्रशस्त ज्ञान स्वरूप तथा समस्त ऐश्वर्यों का निधान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम संवर द्वार—प्रश्न व्याकरणकार ने संवरद्वार-निरूपण प्रसंग में **प्रथम अहिंसा** का निरूपण किया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में यह विचार्य है क्योंकि अहिंसा सम्पूर्ण षट्कायिक जीवों के लिए मंगल कारिणी है।

द्वितीय कारण यह है कि सम्पूर्ण संसार हिंसा से पूर्णतया प्रभावित होता है। हिंसा से त्रस्त प्राणिमात्र के लिए अहिंसा माता की तरह शांति-दायिका बन जाती है। अन्य व्रतों की अपेक्षा अहिंसा का क्षेत्र व्यापक है, इसलिए अहिंसा को प्रथम-संवरद्वार के रूप में आख्यात किया गया है।

तीसरा तथ्य यह है कि संसार में किसी भी तरह का पाप हिंसा कहलाता है। झूठ बोलना, चोरी करना, शोषण करना आदि भाव हिंसा के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार अहिंसा के ग्रहण से सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रहादि का भी ग्रहण हो जाता है। दशवैकालिक चूर्णि में कहा गया है कि—

"अहिंसाग्गहणे पंचमहव्वयाणि गहियाणि भवंति।"

अहिंसा शेष संवर, समस्त व्रत, नियम, उपासना, त्याग, संयम, प्रत्याख्यान आदि की जननी है। महाभारतकार ने इसे सकलधर्म कहा है—

अहिंसा सकलो धर्म हिंसाधर्मस्तथाहितः।

अनुशासन पर्व में इसकी श्रेष्ठता की उद्घोषणा की गई है—

सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम्।
सर्वदानफलंवापि नैतत् तुल्यमहिंसया॥[४४]

× × ×

अहिंसा धर्मशास्त्रेषु सर्वेषु परमं पदम्।

× × ×

अहिंसाया वरारोहे कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥[४५]

अहिंसा संवर क्यों ?

जैन दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत जीव अजीवादि[४६] सात तत्त्वों में से संवर एक प्रमुख तत्त्व है। यह मोक्ष का साधक है। रागादि के कारण आत्मा कर्मों से बन्ध जाती है, उसको आश्रव कहते हैं। कर्मागमन आश्रव है। कर्म निरोध संवर है : आश्रव निरोधो संवर।[४७] अर्थात् आश्रव को रोकना संवर है। 'संव्रियन्ते प्रतिरूध्यन्ते आगन्तुक कर्माणि येन स संवरः संवरण मात्रं···· प्रतिरोधनमात्रं वा संवरः' अर्थात् भविष्य में आने वाले कर्म, जिस शुद्धभाव के परिणमन से रुक जाते हैं, उसे भावसंवर, और आने वाले पुद्गल कर्मों का रुक जाना द्रव्य संवर है। अहिंसा संवर रूप ही है क्योंकि इसके द्वारा आश्रव का निरोध होता है। मकान में प्रवेश करने के द्वार के समान अहिंसादि संवर का द्वार-उपाय है' इसलिए इसे संवरद्वार कहा गया है। इसका महत्त्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिपादित करते हुए आचार्य कहते हैं—

ताणि इमाणि सुव्वय ! महव्वयाइं-
कहियाणि य भगवया ।[४८]

अर्थात् ये लोगों के सम्पूर्ण हितों के प्रदाता, संयम रूप, शील विनय गुणयुक्त, श्रेष्ठ, गुणसमूह, सत्य, आर्जव, व्रतसम्पन्न, नारक, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च रूप चतुर्गति विध्वंसक, कर्मरज विदारक, भवशत विनाशक, दुःख-शत विचमोक, सुखशत प्रवर्तक, कायर पुरुषों के लिए दुस्तर, सत्पुरुष विषेवित एवं निर्वाण गमन का मार्ग हैं।

प्रश्न व्याकरण में प्रयुक्त ६० अहिंसाभिधान अहिंसा के निषेधात्मक और विधेयात्मक उभय स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं—

१. (क) **निषेधात्मक स्वरूप**—अहिंसा को अप्पमातो (अप्रमाद) कहा गया है। 'प्रमादविवर्जनमप्रमादः' अर्थात् प्रमाद का विवर्जन अप्रमाद है। प्रमाद का अर्थ है कषाय। कषायों का परित्याग अथवा मद्य, विषय, कषाय, निन्दा और विकथारूप पांच प्रमादों का परित्याग अप्रमाद है। इन प्रमादों का परित्याग ही अहिंसा है इसलिए इसे अप्रमाद कहा गया। यह अभय है। अहिंसा की गोद में आकर सम्पूर्ण प्राणिजगत् अभय हो जाता है। अभय का कारण होने के कारण अभय को अहिंसा-पर्याय के रूप में उपस्थापित किया गया। 'सव्वस्स वि अमाघाओं अहिंसा—सभी प्राणियों के घात का परित्याग स्वरूप है। मा का अर्थ है लक्ष्मी। वह दो प्रकार की होती है—धनलक्ष्मी और प्राणलक्ष्मी। इनका घात माघात है। इनका घात न करना अमाघात लिये है। अर्थात् सभी प्राणियों के त्राणकारक होने के कारण इसे अमाघात कहा गया। यह नञर्थ का प्रसज्य-निषेधार्थ संद्योतक अभिधान है।

(ख) विधेयात्मक स्वरूप—पूर्व विवेचित नञर्थ का पर्युदासनिषेध यहां विवेच्य है। अहिंसा का अर्थ हिंसा का अभाव तो है ही अहिंसा के सदृश जीवरक्षा, दया, करुणा, सेवा आदि भाव भी अहिंसा है। प्रश्न व्याकरण में इस स्वरूप के विवेचक अनेक अभिधानों का विनियोग हुआ है—दया, सम्मत्ताराहणा, बोही, नन्दा, भद्दा, विसिट्ठदिट्ठी, समिई, रक्खा, शिव, जयणं, अस्साओ, वीसाओ, खंति, कल्लाण, पमाओ, विभूइ, सील, सांति आदि।

दया—'दयन्तेऽनया इति दया' अर्थात् जिसके द्वारा प्राणियों की रक्षा की जाती है वह दया है।[४९] 'दीयते इति दया'[५०] अर्थात् जिसके द्वारा सहानुभूति प्रकट की जाती है वह दया है। दुःखित प्राणियों की रक्षा करना दया है। अहिंसा प्राणियों की रक्षा करती है, इसलिए उसका दया अभिधान यथार्थ है।

सम्मत्ताराहणा—अहिंसा सम्यक्त्वाराधना रूपा है। प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्था से व्यवहार सम्यक्त्व है। अहिंसा की आराधना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से आराधक के जीवन में शान्ति, मोक्षोत्साह एवं गुरुदेवादि के प्रति श्रद्धा स्वयमेव समुत्पन्न हो जाती है इसलिए अहिंसा समत्ताराहना (सम्यक्त्वाराधना) रूप है।

बोही (बोधि)—सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म की प्राप्ति बोधि है। अहिंसा सर्वज्ञवचन का प्राण है इसलिए बोधि है। सम्यग्दर्शन ज्ञानचरित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधिः अर्थात् सम्यक्दर्शन ज्ञान और चारित्र, जो अप्राप्त है उनकी प्राप्ति बोधि है। अहिंसा रत्नत्रय की साधिका है इसलिए बोधि है।

नन्दा—'नन्दयति समृद्धिं नयतीति नन्दा'[५१] जो समृद्धि की ओर ले जाती है वह नन्दा है। अहिंसा समृद्धिदात्री है, स्वपर को आनन्दित करने वाली है, इसलिए नन्दा है।

भद्दा (भद्रा)—भदन्ते कल्याणी करोति देहिनमिति भद्रा' अर्थात् जो प्राणियों की कल्याण कर्त्री है वह भद्रा अहिंसा है।

समिई (समिति)—'सम्मयति ति समिती' अर्थात् जिसके द्वारा साधक सम्यक् प्रकार से गति करता है वह समिति अहिंसा है।

अहिंसा जीवों की रक्षिका है इसलिए **'रक्खा'** मंगलकारिणी है शिव, शान्ति स्वरूप, प्रमोदरूपा शीलमय एवं विभूतिमती है।

२. जीवों का आश्रय—संसारानल में दग्ध जीवों के लिए एक मात्र आश्रय अहिंसा है। इसलिए प्रश्न व्याकरण में उसे दीवो, ताणं, सरणं, आयतणं आदि अभिधानों से अभिहित किया गया है। 'सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स भवति दीवो ताणं सरणं।[५२] देव, मनुष्य एवं असुर सहित समग्रलोक के लिए आश्रय देने वाली द्वीप है। जैसे अगाध समुद्र में डूबने वालों के लिए द्वीप आश्रयभूत होता है, उसी प्रकार अहिंसा अगाध-संसार-सागर में फंसे जीवों को आश्रय देती है। अहिंसा प्राणियों की रक्षा करती है इसलिए त्राण, जीवों को शरण देती है इसलिए शरण, कल्याण कामियों के लिए एक मात्र गमनीय है, इसलिए गति है। अहिंसा में वात्सल्य, दया, सेवा, सहिष्णुता, धैर्य आदि अनेक गुण एवं सुख संपदाएं प्रतिष्ठित है इसलिए उसे प्रतिष्ठा कहा गया है। क्षमा, दया, करुणा, सरलता, सेवा आदि गुणों का आधार अहिंसा है इसलिए इसका 'आयतणं' अभिधान सार्थक है।

३. भावनारूपा—अहिंसा विश्वास, अभयत्व आदि भावना रूप है। यह समस्त प्राणियों में आश्वासन की भावना को पुष्ट करती है। सम्पूर्ण जीवों को भरोसा देने वाली है इसलिए इसका नाम आश्वास (अस्सासो) और विश्वास (वीसासो) है। इसे पवित्ता, सूती तथा पूया कहा गया है। यह पवित्र भावनारूप है इसलिए पवित्रा (पवित्ता), एवं भावों की निर्लोभता रूप होने से इसे शुचि (सुची) कहा गया है। यह भावपूजा रूप है इसलिए 'पूया' अभिधान सार्थक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. आत्मा और अहिंसा—साठ अभिधानों में से कुछ ऐसे भी अभिधान प्रयुक्त हैं जो अहिंसा के आत्मा के साथ साक्षात्सम्बन्ध को उद्घाटित करते हैं। वे नाम हैं—विमलपभासो, पुट्ठी, विसुद्धी, पवित्ता, निम्मलयरति, सिद्धावासो, उस्सओ, सिवं, विभूती आदि। अहिंसा के कारण आत्मा के क्रोधादि राग के निकल जाने से आत्मा शुद्ध हो जाता है इसलिए अहिंसा आत्मा को शुद्ध करने वाली विमल प्रकाशभूता है। पुण्य वृद्धि के कारण आत्मा को पुष्ट करती है इसलिए वह पुष्टि है। आत्मा को विशुद्ध करती है इसलिए विशुद्धि है।

५. कारणभूता—अहिंसा मुक्ति, बोधि, धृति, समृद्धि, रिद्धि, प्रमोद, विभूति एवं शिव (मङ्गल) आदि का कारण है। अर्थात् अहिंसा के पालन से ही पूर्वोक्त तत्त्वों की प्राप्ति होती है। अहिंसा पालक व्यक्ति जन्म-जन्मांतर के बन्धन से छूट जाता है इसलिए वह विमुक्ति, एवं बोधि को प्राप्त करवाती है। बोधि (बोही), अहिंसा के पालन से चित्त की दृढ़ता रूप धृति की उत्पत्ति होती है इसलिए इसे धिती (धृति) कहा गया है। इससे शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक आनन्द तथा रत्नत्रय की समृद्धि होती है इसलिए अहिंसा को समृद्धि कहा गया।

६. अहिंसा का लक्ष्य—प्रश्न व्याकरण में अहिंसा के कतिपय संविधान ऐसे हैं जिनके अनुशीलन से अहिंसा के लक्ष्य या अहिंसा पालन से होने वाले लाभ पर प्रकाश पड़ता है। समृद्धि, बोधि, विभूति, अनाश्रव, संवर, गुप्ति आदि विशेषण उल्लेख्य हैं। अहिंसा कर्म प्रवाह को रोकती है इसलिए अनाश्रव, समग्र ऐश्वर्य, धन, धर्म, यश ज्ञान वैराग्य रूप बाह्य एवं केवलज्ञानानन्त सुखरूप अभ्यन्तर ऐश्वर्य की दात्री है इसलिए उसे विभूति कहा गया है। मोक्ष मार्ग में प्रतिष्ठित करने वाली है इसलिए 'प्रतिष्ठा' है।

७. अहिंसा के आठ उपमान—प्रश्न व्याकरणकार ने अहिंसा के सर्वजीवकल्याण करी स्वभाव पर प्रकाश डालने के लिए आठ उपमानों का प्रयोग किया है। वह अमृतभूता, परब्रह्म स्वरूपा, सर्व व्यापिनी, क्षेमवती, क्षमामया, मंगलरूपा एवं सर्वभूतकल्याणकारिणी है। जीव जब चतुर्दिक् कष्टों से त्रस्त हो जाता है तब अहिंसा ही शरणदात्री बनती है इसलिए अहिंसा को 'भीयाणं विव सरणं'[५३] कहा गया है।

अहिंसा अध्यात्म साधना का आधारभूत है। अहिंसा आधार है तो अध्यात्म आधेय। पुष्ट आधार के बिना आधेय की कल्पना नहीं की जा सकती है। जैसे पक्षियों के गमनागमन में आकाश आधारभूत होता है उसी प्रकार आध्यात्मिक उड़ान भरने के लिए साधक अहिंसा का आधार ग्रहण करते हैं। इसलिए 'पक्खीणं पिव गमणं'[५४] रूप उपमान का विनियोग किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारार्त्त प्राणियों के लिए अहिंसा शान्तिदायिका है, जैसे प्यास से आर्त व्यक्ति को जल शान्ति प्रदान करता है। वैसे ही अहिंसा के शांति-दायात्मिका' स्वरूप को उद्घाटित करने के लिए 'ति सियाणं पिव सलिलं'[५५] को उपमान बनाया गया है।

वह सुख और बल प्रदात्री है। जब साधक परिषहों की मार से अत्यंत बलहीन हो जाता है तब अहिंसा उसे पुनः पराक्रमशील और उत्साह भरकर संयम मार्ग में अधिष्ठित करती है। क्षुधार्त प्राणियों को भोजन बल, सुख तथा गन्तव्य तक जाने के लिए शक्ति प्रदान करता है। इस तथ्य को समुद्घाटित करने के लिए 'खुहियाणं पिव असणं'[५६] उपमान का विनियोग हुआ है।

अहिंसा संसाराम्बुधि में निमज्जित एवं संतरण-असमर्थ जीवों को पार उतारने वाली समर्थ नौका है। जैसे अगाध समुद्र में डूबने वाले व्यक्ति को जहाज न केवल डूबने से बचाता है अपितु पार भी उतार देता है। उसी प्रकार भव्य जीवों को अहिंसा संसार सागर से पार उतारती है। मोक्ष-गृह का मार्ग प्रशस्त करती है। इस आशय को प्रकट करने के लिए पोतवहणं'[५७] को उपमान के रूप में विन्यस्त किया गया है।

वह सम्पूर्ण जीवों का आश्रय है इसलिए 'चउप्पयाणं व आसमपयं'[५८] उपमान का प्रयोग किया गया। अहिंसा संसारिक रोगों का विनाश कर मानसिक शारीरिक स्वस्थता प्रदान करती है। जैसे ओषधि जीवों के विभिन्न रोगों को समाप्त कर स्वास्थ्य और बल प्रदान करती है वैसे ही अहिंसा द्वेष और वैरादि भावरोगों को निरस्तकर जीव मात्र को आत्मिक स्वास्थ्य एवं चारित्रिक बल से पूर्ण करती है। 'दुह ट्टियाणं च ओसहिबलं'[५९] रूप उपमान से यह तथ्य प्रकट होता है।

अहिंसा जीवों की श्रेष्ठ एवं सशक्त संरक्षिका है। जैसे भयंकर जंगल में समर्थ-सार्थवाहों का संघ हिंसक एवं लुण्टाकों से जान-माल का संरक्षक होता है, उसी प्रकार अहिंसा संसार वन में विभ्रमित जीवों को मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय एवं प्रमादादि लुटेरों एवं प्रवंचको से सुरक्षा प्रदान करती है। 'अडवीमज्झे व सत्थगमणं' से यह तथ्य उद्घाटित होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह परिलक्षित होता है कि अहिंसा न केवल मनुष्यों के लिए बल्कि त्रस-स्थावर सम्पूर्ण जीव जाति की कल्याण साधिका है। इसी आशय को प्रश्न व्याकरणकार ने प्रकट किया है—

'अहिंसा.....तस-थावर सव्वभूयखेमकरी।'

□

सन्दर्भ सूची

१. युधिष्ठिर मीमांसक, संस्कृत-हिन्दी धातु कोश पृ० १४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. मोनीयर विलियम्स संस्कृत-अंग्रेजी कोश पृ० १२५
३. आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश पृ० १३४
४. सदाशिव शास्त्री
५. ऋग्वेद ६.७५.१४
६. तत्रैव
७. यजुर्वेद ३६.१८
८. अपर्ववेद ३.३०.४
९. तत्रैव १७.१.१७
१०. ऋग्वेद १.३५.७
११. यजुर्वेद ३६.१७
१२. ईशावास्योपनिषद् ६
१३. तत्रैव ७
१४. प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् खण्ड ४
१५. छान्दोग्योपनिषद् ८.१५.१
१६. तत्रैव ३.१७.४
१७. आरुणिकोपनिषद् ३
१८. मनुस्मृति ६.७५, ७.६३
१९. वाल्मीकि रामायण २.३३.१२
२०. महाभारत शांतिपर्व २३९.२१-२२
२१. महाभारत, अनुशासन पर्व ११६.२८-२९
२२. वायुपुराण पूर्वार्ध अध्याय १८
२३. भागवत पुराण
२४. पातंजल योगदर्शन २.३०-३१
२५. तत्रैव २.३५
२६. सांख्यकारिका २
२७. दीर्घनिकाय, पंडित राहुल सांकृत्यायन कृत हिन्दी अनुवाद पृ० २-३
२८. संयुक्त निकाय, प्रथम भाग पृ० १३२
२९. बोधिचर्यावतार, तृतीय परिच्छेद
३९. दशवैकालिक १.१
३१. आचारांग ४.१.१-२
३२. प्रश्न व्याकरण देखें प्रथम आश्रवद्वार
३३. कषाय पाहुड १.१, १.८३. गा० ४२.१०२
३४. परमात्म प्रकाश टीका २.१२५
३५. पंचाध्यायी उत्तरार्ध ७५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६. तत्त्वार्थ सूत्र ७.८
३७. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र ७.८ पर भाष्य
३८. प्रवचन सार ३.१७ पर टीका
३९. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४३
४०. भगवती आराधना मूलगाथा ८०७
४१. प्रश्न व्याकरण १.१
४२. तत्रैव १.१
४३. तत्रव १.२
४४. तत्रैव अनुशासनपर्व ११६.३०
४५. तत्रैव अध्याय १४५
४६. तत्त्वार्थ सूत्र १.४
४७. तत्रैव ९.१
४८. प्रश्न व्याकरण-संवरद्वार निरूपण प्रसंग (पांचवा अध्ययन)
४९. अभिधानचिन्तामणि पृ० ८६
५०. आचारांग चूर्णि २७०
५१. प्रश्न व्याकरण टीका पत्र १०३
५२. प्रश्न व्याकरण ६.२१
५३. तत्रैव ६.२२
५४. तत्रैव ६.२२
५५. तत्रैव ६.२२
५६. तत्रैव ६.२२
५७. तत्रैव ६.२२
५८. तत्रैव ६.२२
५९. तत्रैव ६.२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वेतांबर-परम्परा का चन्द्रकुल (चन्द्रगच्छ) और उसके प्रसिद्ध आचार्य

☐ शिवप्रसाद

निर्ग्रन्थ परम्परा के श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चन्द्रकुल का स्थान प्रथम पंक्ति में है। परम्परानुसार आर्य वज्रसेन के चार शिष्यों—नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर से उक्त नाम वाले चार कुलों का जन्म हुआ[1], किन्तु **पर्युषणाकल्प** अपरनाम **कल्पसूत्र** की **स्थविरावली** में चन्द्र और निर्वृत्तिकुल उल्लेख न होने से यह माना जा सकता है कि ये दोनों कुल बाद में अस्तित्त्व में आये।

चन्द्रकुल का सर्वप्रथम उल्लेख अकोटा से प्राप्त कुछ धातु प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों में प्राप्त होता है।[2] डा० उमाकान्त पी० शाह ने लिपि एवं प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर उनमें से एक प्रतिमा का काल ईस्वी सन् की छठी शताब्दी निर्धारित किया है।[3]

चन्द्रकुल से समय-समय पर विभिन्न शाखाओं के रूप में अनेक गच्छों का प्रादुर्भाव हुआ, जैसे वि० सम्वत् ९९४ में चन्द्रकुल के एक आचार्य उद्योतनसूरि ने सर्वदेवसूरि सहित ८ शिष्यों का अर्बुद-मण्डल में स्थित धर्माण (ब्रह्माण-वर्तमान वरमाण) सन्निवेश में वट वृक्ष के नीचे आचार्य पद प्रदान किया। वट वृक्ष के कारण उनका शिष्य परिवार **वटगच्छीय** कहलाया।[4] इसी प्रकार चन्द्रकुल के ही एक आचार्य प्रद्युम्नसूरि के प्रशिष्य और अभय देव-सूरि (**वादमहार्णव** के रचनाकार) के शिष्य धनेश्वरसूरि; जो कि मुनि दीक्षा के पूर्व राजा थे, की शिष्यसन्तति **राजगच्छीय** कहलायी।[5] इसी प्रकार **पूर्णतल्लगच्छ, सरवालगच्छ, पूर्णिमागच्छ, आगमिकगच्छ, पिप्पलगच्छ, खरतरगच्छ, तपागच्छ** और **अंचलगच्छ** आदि का भी समय-समय पर विभिन्न कारणों से चन्द्रकुल की एक शाखा के रूप में जन्म हुआ। इनमें से खरतरगच्छ, तपागच्छ और अंचलगच्छ आज भी विद्यमान हैं।

ईस्वी सन् की १२ वीं शताब्दी से नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर ये चारों कुल गच्छों के रूप में उल्लिखित मिलते हैं। चन्द्रकुल से सम्बद्ध पर्याप्त संख्या में ग्रन्थप्रशस्तियां, पुस्तक प्रशस्तियां तथा प्रतिमालेख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि मिले हैं और ये सब मिलकर ईस्वी सन् की छठीं शताब्दी से लेकर ई० सन् की १६ वीं शताब्दी तक के हैं। विवेच्य निबन्ध में उक्त साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिये सर्वप्रथम साहित्यिक साक्ष्यों और तत्पश्चात् अभिलेखीय साक्ष्यों का विवरण प्रस्तुत है :

साहित्यिक साक्ष्य

चन्द्रकुल से सम्बद्ध पर्याप्त संख्या में प्रकाश में आ चुके साहित्यिक साक्ष्यों के दो वर्ग किये जा सकते हैं। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत इस कुल एवं गच्छ के मुनिजनों द्वारा प्रणीत कृतियों की प्रशस्तियों को रखा गया है। द्वितीय वर्ग में उक्त गच्छ के विभिन्न मुनिजनों के उपदेश से श्रावकों द्वारा लिखवाई गयी या स्वयं मुनियों द्वारा ही लिखी गयी प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की प्रतिलिपि की प्रशस्तियों को रखा गया है। दोनों ही प्रकार की प्रशस्तियों में प्रायः समान रूप से रचनाकार या प्रतिलिपिकार मुनि की गुरु-परंपरा, रचनाकाल या लेखनकाल आदि का उल्लेख मिलता है। विवेच्य निबन्ध में केवल उन्हीं कृतियों को रखा गया है जिनकी प्रशस्तियां इस गच्छ के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। उक्त प्रशस्तियों को क्रमशः **ग्रन्थ-प्रशस्ति** और **पुस्तक प्रशस्ति** के नाम से जाना जाता है। इनका अलग-अलग विवरण इस प्रकार है :

(क) ग्रन्थप्रशस्तियां

१. सुरसुंदरीचरियं (सुरसुन्दरीचरित) प्राकृत भाषा में १६ अध्यायों में विभक्त ४००० गाथाओं की यह कृति चन्द्रकुल के आचार्य धनेश्वरसूरि की कृति है। इसमें एक विद्याधर राजकुमार की प्रणयगाथा वर्णित है। कृति के अन्त में प्रशस्ति के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने अपनी गुरु-परम्परा और रचनाकाल का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :

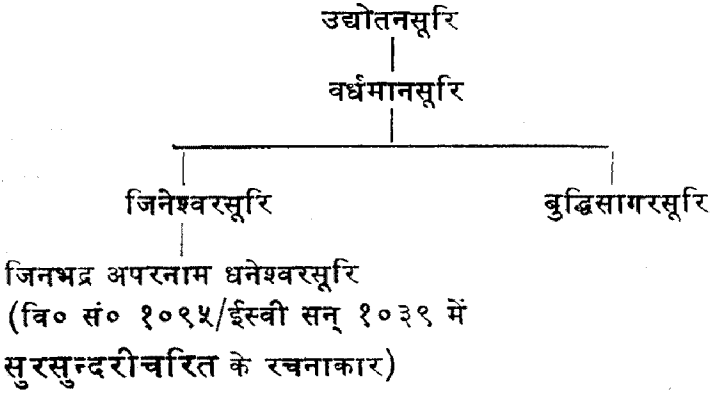

२. संवेगरंगशाला—यह कृति चन्द्रगच्छीय जिनचन्द्रसूरि द्वारा वि०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सं० ११२५/ईस्वी सन् १०६९ में रची गयी है। इसमें १५० गाथायें हैं। कृति के अन्त में प्रशस्ति के अन्तर्गत रचनाकार ने अपनी गुरु-परम्परा, रचनाकाल आदि का उल्लेख किया है।[७] इस प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार ने अपने गुरु भ्राता नवाङ्गवृत्तिकार अभयदेवसूरि के अनुरोध पर इस कृति की रचना की थी। इसमें उल्लिखित गुरु-परम्परा इस प्रकार है :

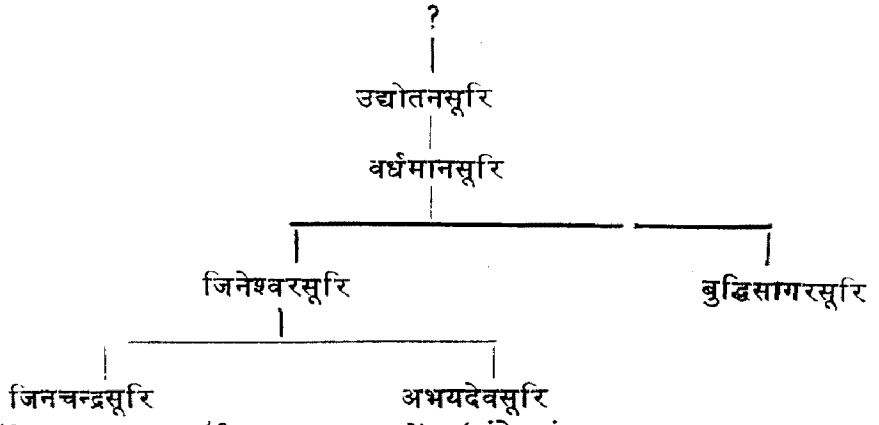

३. व्याख्या प्रज्ञप्ति वृत्ति---चन्द्रकुल के आचार्य वर्धमानसूरि के प्रशिष्य और जिनेश्वरसूरि एवं बुद्धिसागरसूरि के शिष्य अभयदेवसूरि ने वि० सं० ११२८/ईस्वी सन् १०७२ में इस कृति की रचना की। अभयदेवसूरि ने व्याख्याप्रज्ञप्ति सहित ९ अंग ग्रन्थों पर वृत्तियां लिखी हैं, इसी कारण ये नवाङ्गवृत्तिकार के रूप में विख्यात रहे हैं। व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति की प्रशस्ति में वृत्तिकार ने अपनी गुरु-परम्परा, रचनाकाल, रचनास्थान आदि का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :

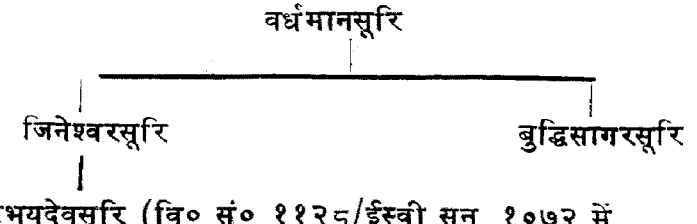

४. सणंकुमारचरिय (सनत्कुमारचरित) श्वेताम्बर जैन परम्परा में सनत्कुमार की चौथे चक्रवर्ती के रूप में मान्यता है।[८] इनके जीवनचरित पर विभिन्न जैन ग्रन्थकारों की कृतियां उपलब्ध होती हैं। इनमें सबसे प्राचीन है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रगच्छीय श्रीचन्द्रसूरि द्वारा प्राकृत भाषा में रचित सणंकुमारचरिय है इसकी प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने अपनी गुरु-परम्परा, रचनाकाल आदि का विवरण दिया है[10], जो इस प्रकार है :

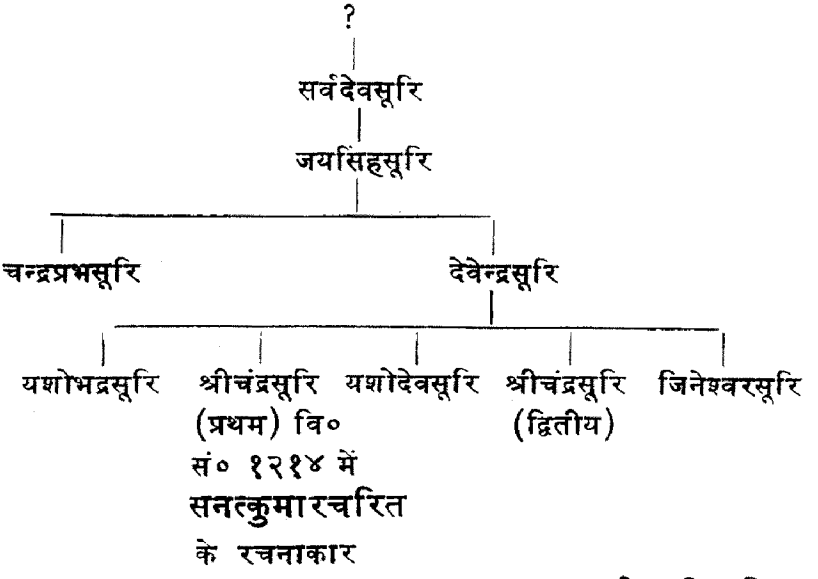

इसी प्रकार पूर्णिमापक्षीय विमलगणि द्वारा रचित दर्शनशुद्धिवृत्ति[11] (रचनाकाल वि० सं० ११८१/ईस्वी सन् ११२५) की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि पूर्णिमागच्छ या पूर्णिमापक्ष के प्रवर्तक तथा विमलगणि के प्रगुरु चन्द्रप्रभसूरि चन्द्रकुल के सर्वदेवसूरि के प्रशिष्य तथा जयसिंहसूरि के शिष्य थे। इस प्रशस्ति में दी गयी गुरु-परम्परा इस प्रकार है :—

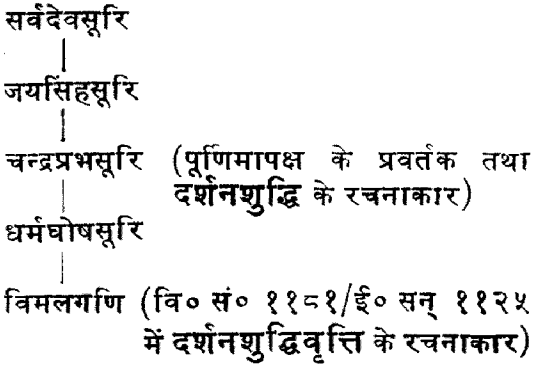

उक्त दोनों प्रशस्तियों से प्राप्त गुर्वावली से स्पष्ट होता है कि उनमें प्रथम दो नाम सर्वदेवसूरि और जयसिंहसूरि समान है तथा जयसिंहसूरि के एक शिष्य चन्द्रप्रभसूरि से पूर्णिमागच्छ अस्तित्व में आया एवं द्वितीय शिष्य देवेन्द्रसूरि की शिष्य मंडली में सनत्कुमारचरित के रचनाकार श्रीचंद्रसूरि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(प्रथम) हुए।

५. उपदेशकन्दलीटीका—यह चन्द्रगच्छीय हरिभद्रसूरि के शिष्य बालचंद्रसूरि द्वारा रची गयी है। इनके द्वारा रची गयी कुछ अन्य कृतियां भी मिलती हैं, जैसे **वसन्तविलासमहाकाव्य, विवेकमंजरीवृत्ति, करुणावज्रायुधनाटक** आदि। **उपदेशकन्दलीटीका** की प्रशस्ति[12] में टीकाकार ने अपनी गुरु-परम्परा का विस्तृत विवरण दिया है, जो इस प्रकार है :

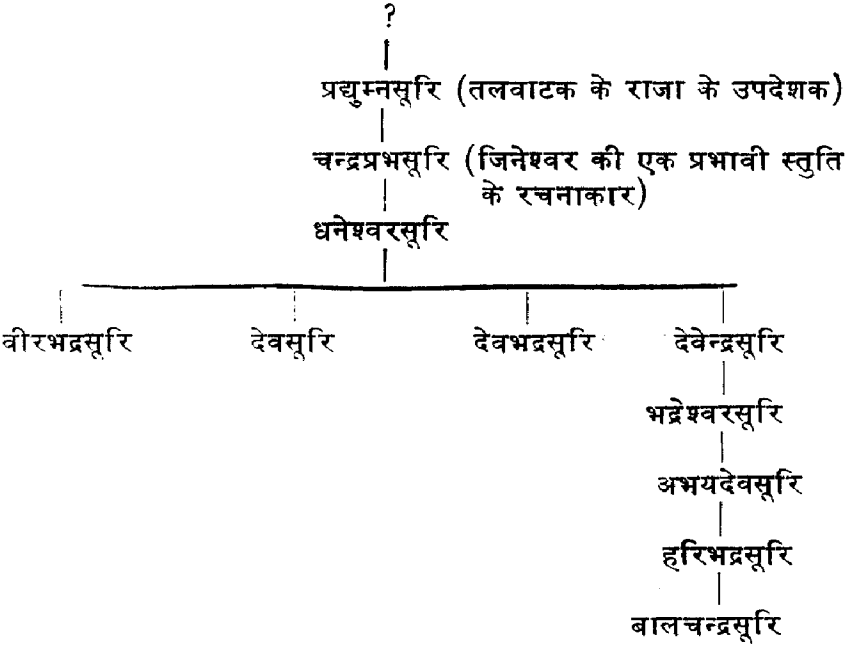

६. उपमितिभवप्रपंचकथासारोद्धार—चन्द्रगच्छीय देवेन्द्रसूरि द्वारा संस्कृत भाषा में रचित यह कृति सिद्धर्षि के **उपमितिभवप्रपंचाकथा** (रचनाकाल वि० सं० ९६२/ईस्वी सन् ९०६) का संक्षिप्त रूप है। इसकी प्रशस्ति[13] के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने अपनी लम्बी गुर्वावली दी है और रचनाकाल का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :

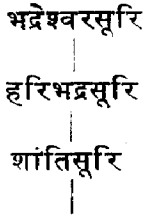

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

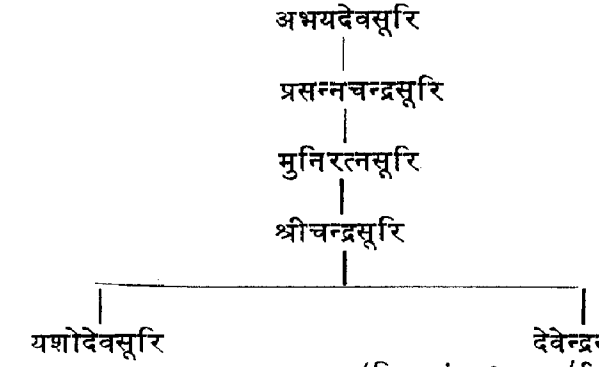

६. पार्श्वनाथचरित—यह चन्द्रगच्छीय रविप्रभसूरि के शिष्य विनयचन्द्रसूरि की कृति है। यह ६ सर्गों में विभाजित है, इसमें ४९८५ श्लोक हैं। रचना के अन्त में प्रशस्ति के अन्तर्गत रचनाकार ने अपनी गुरु-परम्परा[१४] दी है, जो इस प्रकार है :

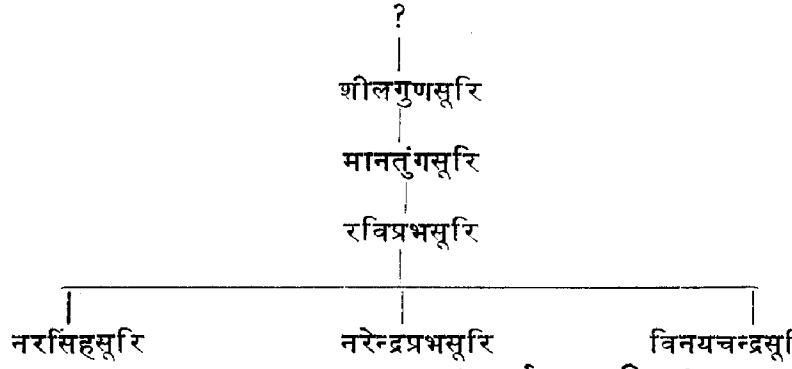

यद्यपि रचनाकार ने अपनी इस कृति में रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया है, फिर भी विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर इसे वि० सं० की १४ वीं शती के प्रथम चरण की कृति माना जा सकता है।

८. समरादित्यसंक्षेप—यह आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा रचित समराइच्चकहा (प्राकृत भाषामय) का संस्कृत भाषा में रचित छंदोबद्धसार है जिसे चन्द्रगच्छीय कनकप्रभसूरि के विद्वान् शिष्य प्रद्युम्नसूरि ने वि० सं० १३२४/ईस्वी सन् १२५८ में रचा है। प्रद्युम्नसूरि ने अनेक ग्रन्थों का संशोधन किया। कृति के अन्त में इन्होंने अपनी गुरु-परम्परा और रचनाकाल आदि का विवरण दिया है[१५], जो इस प्रकार है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

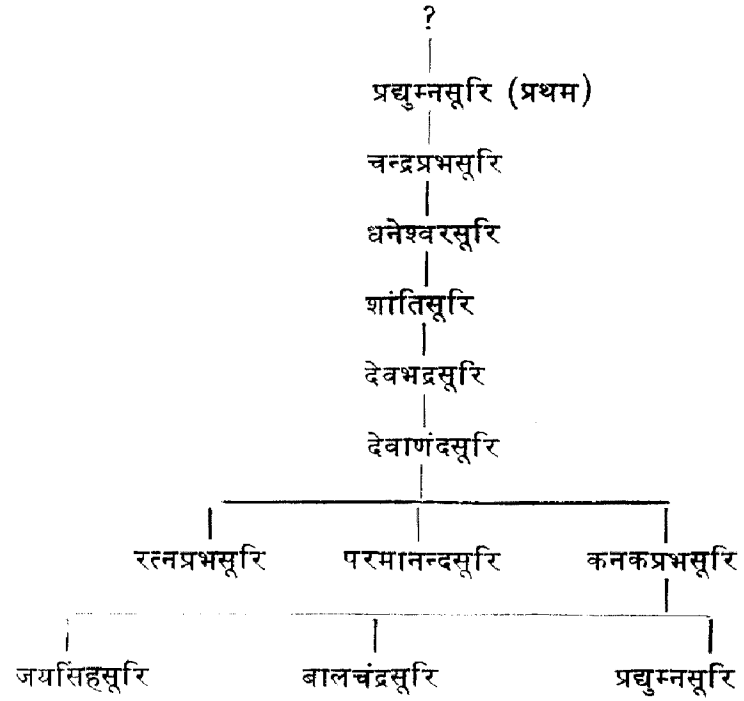

वि० सं० १००५/ई० सन् ९४९ में रचित **मुनिपतिचरित** के कर्त्ता जम्बूनाग और वि० सं० १०२५/ ई० सन् ९६९ में रची गयी **जिनशतक** के रचनाकार जम्बूकबि भी स्वयं को चन्द्रगच्छीय ही बतलाते[14] हैं। किन्तु इन्होंने अपनी कृतियों की प्रशस्तियों में अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख नहीं किया है। क्या ये दोनों (जम्बूनाग और जम्बूकवि) एक ही व्यक्ति हैं या अलग-अलग ! इस सम्बन्ध में पर्याप्त साक्ष्यों के अभाव में कुछ भी कह पाना कठिन है, किन्तु चन्द्रकुल से सम्बद्ध प्राचीन साहित्यिक साक्ष्य होने से ये महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं।

इसी प्रकार चन्द्रगच्छीय किन्हीं उदयप्रभसूरि द्वारा रचित **शीलवती-कथा** नामक कृति भी मिलती है[15], परन्तु इसके रचनाकाल, और ग्रन्थकार की गुरु-पम्परा के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। इस कृति की वि० सं० १४००/ ईस्वी सन् १३४४ में लिपिबद्ध की गयी एक प्रति मिली है।

(ख) पुस्तक प्रशस्तियां अथवा प्रतिलिपिप्रशस्तियां

१. योगशास्त्रवृत्ति की पुस्तकप्रशस्ति—कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र द्वारा रची गयी **योगशास्त्रवृत्ति** की वि० सं० १२९२/ ईस्वी सन्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२३६ में लिपिबद्ध की गयी एक प्रति शांतिनाथ जैन भंडार, खंभात में संरक्षित है जिसके प्रतिलेखन प्रशस्ति[१८] में चन्द्रगच्छीय मुनिजनों की गुर्वावली दी गयी हैं, जो इस प्रकार है :

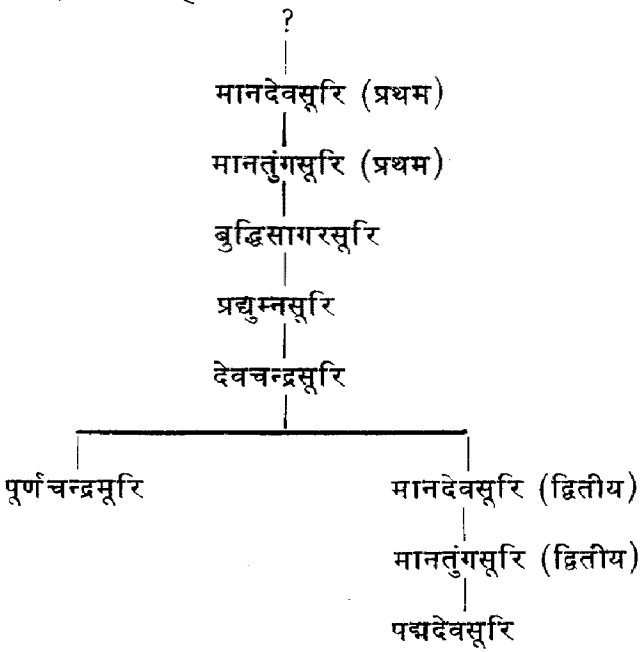

(वि० सं० १२९२/ईस्वी सन् १२३६ में लिखी गयी योगशास्त्रवृत्ति की दाताप्रशस्ति में उल्लिखित)

२. **आवश्यकसूत्र की पुस्तक प्रशस्ति**—चन्द्रगच्छीय यशश्चन्द्रसूरि की प्रेरणा से वि० सं० १२९२/ ई० सन् १२३६ में एक श्रावक द्वारा लिपिबद्ध करायी गयी आवश्यकसूत्र की प्रतिलिपि की प्रशस्ति[१९], में चंद्रगच्छीय उक्त आचार्य की गुरु-परम्परा दी गयी है, जो इस प्रकार है :

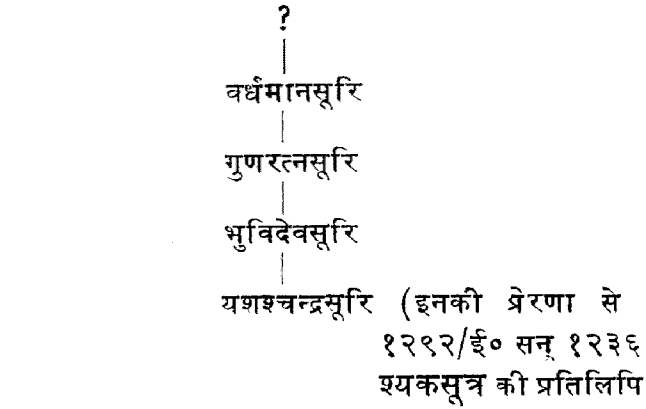

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. उत्तराध्ययनसूत्र की पुस्तक प्रशस्ति—चन्द्रगच्छीय रत्नाकरसूरि ने वि० सं० १३०८/ईस्वी सन् १२५२ में उत्तराध्ययनसूत्र की प्रतिलिपि की। इसकी प्रशस्ति[१७] में उन्होंने अपने गच्छ की लम्बी गुर्वावली दी है, जो निम्नानुसार है :

?
|
नन्नसूरि
वादिसूरि
सर्वदेवसूरि
प्रद्युम्नसूरि
भद्रेश्वरसूरि
देवभद्रसूरि
सिद्धसेनसूरि
यशोदेवसूरि
मानदेवसूरि
रत्नप्रभसूरि
देवप्रभसूरि
रत्नाकरसूरि (वि० सं० १३०८/ई० सन् १२५२ में उत्तराध्ययनसूत्र के प्रतिलिपिकर्ता)

४. पिण्डविशुद्धिसावचूरि की पुस्तक प्रशस्ति—वि० सं० १४१०/ ईस्वी सन् १३५४ में देवकुलपाटक में किन्हीं आनन्दरत्नगणि के परोपकारार्थ उक्त ग्रन्थ की प्रतिलिपि की गयी। यह बात उक्त प्रति की प्रशस्ति[२१] से ज्ञात होती है। इस प्रशस्ति में चन्द्रगच्छ के नायक सोमसुन्दरसूरि, उनके शिष्य साधुराजगणि आदि का उल्लेख है।

?
|
सोमसुन्दरसूरि
|
साधुराजगणि
|
साधुराजगणिशिष्य (?)

५. युगप्रधानयंत्र की प्रतिलिपिप्रशस्ति—देवेन्द्रसूरि द्वारा प्रणीत युगप्रधानयंत्र की एक प्रति वि० सं० १४१३/ ईस्वी सन् १३५७ में चन्द्रगच्छीय कीर्तिभुवन द्वारा लिपिबद्ध की गयी। इसकी प्रशस्ति[२१] में प्रतिलिपिकार ने अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

?
|
चन्द्रगच्छीय सोमतिलकसूरि
उपाध्याय हंसभुवनगणि
कीर्तिभुवन (वि० सं० १४१३/ईस्वी सन् १३५० में **युगप्रधानयंत्र** के प्रतिलिपिकार)

६. प्रशमरतिप्रकरणवृत्ति की प्रतिलिपि प्रशस्ति—संघपीपाड़ा भंडार, पाटन में संरक्षित और वि० सं० १४९८/ ईस्वी सन् १४४१ में लिखी गयी उक्त कृति की प्रतिलिपि प्रशस्ति[11] में चन्द्रगच्छीय मुनिजनों की एक छोटी गुर्वावली मिलती है, जो निम्नानुसार है :

?
|
चन्द्रगच्छीय पूर्णचन्द्रसूरि
हेमहंससूरि
हेमसारगणि
हेममेरुगणि (वि. सं. १४९८/ ई० सन् १४४१ में **प्रशमरतिप्रकरण** वृत्ति के प्रतिलिपिकार)

उक्त प्रशस्ति से यह भी पता चलता है कि प्रतिलिपिकार ने उक्त ग्रन्थ के त्रुटित अंश को भी पूर्ण किया था।

७. जीवाभिगमसूत्र की प्रतिलिपि प्रशस्ति—चन्द्रगच्छीय वाचनाचार्य संयमहंस ने वि० सं० १६०५/ ई० सन् १५४९ में उक्त ग्रन्थ की प्रतिलिपि की, जिसकी प्रशस्ति[14] में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा निम्नानुसार दी है :

?
|
वादी चक्रचूड़ामणि जिनप्रभसूरि
जिनतिलकसूरि
राजहंस उपाध्याय
वाचनाचार्य संयमहंस (वि० सं० १६०५/ ई० सन् १५४९ में **जीवाभिगमसूत्र** के प्रतिलिपिकार)

उक्त सभी साहित्यिक साक्ष्यों में उल्लिखित चन्द्रकुल (चन्द्रगच्छ) की छोटी-बड़ी गुर्वावलियों से अनेक मुनिजनों के नामों का पता चलता है, परन्तु इनमें से दो-तीन गुर्वावलियों को छोड़कर अन्य सभी गुर्वावलियों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परस्पर समायोजित न हो पाने के कारण इस गच्छ की गुरु-परम्परा की एक अविच्छिन्न तालिका को संगठित कर पाना असम्भव सा लगता है।

(ग) अभिलेखीय साक्ष्य

चन्द्रकुल (चन्द्रगच्छ) से सम्बद्ध अभिलेखीय साक्ष्यों का विवरण निम्नानुसार है। जैसा कि लेख के प्रारम्भ में कहा जा चुका है अकोटा से प्राप्त कुछ धातुप्रतिमाओं पर उत्कीर्ण अभिलेखों में भी इस कुल का उल्लेख मिलता है। प्राध्यापक उमाकांत पी० शाह ने इनका काल प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन और लिपि के आधार पर ईस्वी सन् की छठीं शताब्दी से ईस्वी सन् की १० वीं शताब्दी तक निर्धारित किया है। इनका विवरण इस प्रकार है :

अकोटा से प्राप्त चन्द्रकुल का उल्लेख करने वाला प्रथम लेख जीवन्तस्वामी की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है। शाह[५] महोदय ने इसकी वाचना निम्नानुसार दी है :

१. ॐ देवधर्मोयं जिवंतसामी
२. प्रतिमा चद्र (चन्द्र) कुलिकस्य
३. नागीस्वरी श्राविकस्या

प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर उन्होंने इस लेख को ईस्वी सन् की छठी शताब्दी के मध्य का माना है।

चन्द्रकुल का उल्लेख करने वाला द्वितीय अभिलेखीय साक्ष्य भी वहीं से प्राप्त एक जिनप्रतिमा पर उत्कीर्ण है। शाह ने इसे ई० सन् ६०० से ६४० के मध्य का बतलाया है। लेख का मूलपाठ निम्नानुसार[९] है :

१. ॐ देवधमय (धर्मोयं) ॥चद (न्द्र) कुलिकस्य॥
९. सिहजि श्रा (व) स्य।

अकोटा से ही प्राप्त इसी काल की पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा पर भी इस कुल का उल्लेख मिलता है। शाह[१०] ने इस लेख का पाठ दिया है, जो इस प्रकार है :

१. देवधर्मोयं चन्द्रकुले दुर्गि
२. णि श्राविकया रथवसति
३. काया

अकोटा से प्राप्त पार्श्वनाथ की एक अष्टतीर्थी धातु प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख में भी इस कुल का उल्लेख मिलता है। उन्होंने इस लेख को प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर ई० सन् की १० वीं शती के अंतिम चरण और ११ वीं शती के प्रथमचरण के बीच का माना है।[२८] लेख का मूलपाठ इस प्रकार है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ॐ चन्द्रकुले मोढगच्छेनिन्नट श्रावकस्य

इस लेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मोढगच्छ भी चन्द्रकुल की ही एक शाखा के रूप में अस्तित्व में आया।

यद्यपि उक्त चारों प्रतिमालेखों में चन्द्रकुल के किसी आचार्य या मुनि का उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी उनसे इस कुल की प्राचीनता सिद्ध होती है।

चन्द्रगच्छीय मुनिजनों द्वारा प्रतिष्ठापित कुछ जिन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। इन पर वि० सं० १०३२ से १५५२ तक के लेख उत्कीर्ण हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :

क्रमांक	संवत्	तिथि/मिति	आचार्य का नाम	लेख का स्वरूप	प्रतिष्ठा स्थान	संदर्भ ग्रन्थ
१.	१०३२		शीलगुणसूरि	पार्श्वनाथ की धातु की प्रतिमा का लेख	श्री कुमरसिंह हलनं० ४६, इण्डियन मिरर स्ट्रीट कलकत्ता	पूरनचन्द नाहर-संपा० जैन लेख संग्रह भाग १, लेखांक ३८६
२.	११८२	ज्येष्ठ वदि ६ बुधवार	चक्रेश्वरसूरि	परिकर की गादी का लेख	जैन मंदिर, देरणा	मुनि जयन्तविजय—संपा० अर्बुदाचलप्रदक्षिणा जैन लेखसंदोह (आबू-भाग ५) लेखांक ६३६
३.	१२२६	आषाढ़ सुदि ९ गुरूवार	षण्डगसूरि	महावीर की प्रतिमा का लेख	गणधर की देव-कुलिका जिनेन्द्र टूंक, शत्रुञ्जय	मुनि कांतिसागर—संपा० शत्रुञ्जय वैभव लेखांक ६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International

For Private & Personal Use Only

www.jainelibrary.org

४.	१२३५	वैशाख सुदि ३ बुधवार	पूर्णभद्रसूरि	पार्श्वनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा पर उत्कीर्ण खंडित लेख	श्वेताम्बर जैनमंदिर, सम्मेत शिखर	नाहर, पूर्वोक्त-भाग २, लेखांक १६८८
५.	१२३९	चैत्र सुदी ५ गुरुवार	श्री चन्द्रसूरि के पट्टधर पूर्णभद्रसूरि	दीवाल पर उत्कीर्ण लेख	तोपखाना, जालौर	मुनि जिनविजय—संपा० प्राचीन जैन लेख संग्रह भाग-२, लेखांक ३५१ एवं नाहर, पूर्वोक्त-भाग १, लेखांक ८९९
६.	१२५८	ज्येष्ठ सुदि १० रविवार	देवभद्रसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा उत्कीर्ण लेख	शीतलनाथ जिनालय, उदयपुर	नाहर, पूर्वोक्त भाग २, लेखांक १०३४
७.	१२७२	ज्येष्ठ वदि २ रविवार	शांतिप्रभसूरि के पट्टधर हरिप्रभसूरि	महावीर की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	जैन मंदिर, शीयाल-वेट, काटियावाड़	जिन विजय—पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक ५४७ एवं
८.	१२७२	ज्येष्ठ वदि २ रविवार	शांतिप्रभसूरि के पट्टधर हरिप्रभसूरि	महावीर की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	जैन मंदिर, शीयालवेट, काठियावाड़	नाहर—पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक १७७७
९.	१२७२	सावण सुदि १ बुधवार	देवसूरि	पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण लेख	वडाली	प्राचीन लेख संग्रह भाग १, लेखांक ३३

१०.	१२७९	माघ सुदि २ गुरुवार	श्रीचन्द्रसूरि	सुमतिनाथ मुख्य बावन जिनालय, मातर	मुनि बुद्धिसागर—संपा०; जैन धातु प्रतिमालेख संग्रह भाग २, लेखांक ५२०
११.	१२८६	फाल्गुन सुदि २ रविवार	मलयचंद्रसूरि के पट्टधर समंतभद्रसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	विमलवसही, आबू	मुनि जयन्तविजय—संपा०, अर्बुद प्राचीन जैन लेख संदोह (आबू भाग-२) लेखांक ११२ एवं मुनि कल्याणविजय—संपा० प्रबन्धपारिजात लेखांक ८२ तथा मुनि जिनविजय, पूर्वोक्त—लेखांक १८२
११.	१२९३	फाल्गुन सुदि ११ शनिवार	समुद्रघोषसूरि के पट्टधर महेन्द्रसूरि		चिन्तामणि जी का मंदिर, बीकानेर	अगरचन्द्र नाहटा—संपा०, बीकानेर जैन लेख संग्रह लेखांक १३२
१३.	१३००	वैशाख वदि ११ बुधवार	हरिप्रभसूरि के पट्टधर यशोभद्रसूरि	मल्लिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	जैन मंदिर, शीयालवेट, काठियावाड़	जिनविजय, पूर्वोक्त, लेखांक ५४५ एवं नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक ११७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४.	१३०१	फाल्गुण सुदि ४ गुरुवार	पद्मप्रभसूरि	तीर्थंकर की धातु-प्रतिमा पर उत्कीर्ण	चिन्तामणि जिनालय, चिन्तामणिशेरी, राधनपुर	मुनि विशालविजय–संपा०, राधनपुर प्रतिमालेख-संग्रह लेखांक ३२
१५.	१३०१	फाल्गुन सुदि ५	मुनिचन्द्रसूरि के पट्टधर नेमिचन्द्रसूरि	धातु की चौबीसी जिनप्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	पद्मप्रभजिनालय, कडाकोटडी, खंभात	मुनि बुद्धिसागर—पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक ५९४
१६.	१३१०	बैशाख वदि ५ गुरुवार	परमानन्दसूरि के पट्टधर रत्नप्रभसूरि	स्तम्भ निर्माण का उल्लेख	जैन मंदिर, आरासणा	मुनि जयन्तविजय–पूर्वोक्त आबू-भाग ५, लेखांक २४, मुनि विशालविजय—आरासणातीर्थ लेखांक १२ एवं मुनि जिनविजय, पूर्वोक्त लेखांक २८०
१७.	१३१५	फाल्गुन वदि ७ शनिवार	यशोभद्रसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	जैन मंदिर, सीयालवेट, काठियावाड़	नाहर, पूर्वोक्त—भाग २, लेखांक १७७९ एवं जिन-विजय, पूर्वोक्त-लेखांक ५४६
१८.	१३३१	ज्येष्ठ सुदि १ बुधवार	पद्मप्रभसूरि के पट्टधर गुणाकर सूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	जैन मंदिर, वल्लभ विहार पालिताना	मुनि कांतिसागर— संपा० शत्रुंजयवैभव लेखांक २२

१९.	१३३१ (२)	वैशाख सुदि ३ रविवार	....सूरि के पट्टधर रत्नप्रभसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	वीर जिनालय, गीपटी, खंभात	मुनि बुद्धिसागर—पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक ७०२
२०.	१३३२	ज्येष्ठ सुदि १३ बुधवार	पद्मप्रभसूरि के पट्टधर गुणाकरसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि जी का मंदिर, बीकानेर	नाहटा—पूर्वोक्त, लेखांक १७९
२१.	१३४४	वैशाख सुदी १०	गुणाकरसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, माणेक चौक, खंभात	मुनि बुद्धिसागर—पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक ९९६
२२.	१३५३	चैत्र वदि ११ रविवार	गुणाकरसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	सीमंधर स्वामी का जिनालय, खारवाड़ा,	वहीं, भाग २, लेखांक १०७३
२३.	१५५२	माघ वदि १२ बुधवार	वीरदेवसूरि	सुविधिनाथ की प्रतिमा का लेख	गौडी पार्श्वनाथ जिनालय, गौडी पार्श्वनाथ खड़की, राधनपुर	मुनि विशाल विजय—पूर्वोक्त, लेखांक ३१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महामात्य तेजपाल द्वारा वि० सं० १२९८/ ई० सन् १२४२ में तीर्थाधिराज शत्रुञ्जय पर आयोजित श्वेताम्बर श्रमण संघ के सम्मेलन में अन्यान्य गच्छों के आचार्यों एवं मुनिजनों के साथ-साथ नवाङ्गवृत्तिकार अभयदेवसूरि की परम्परा में हुए छत्राउला (?) देवप्रभसूरि के शिष्य पद्मप्रभसूरि के सम्मिलित होने का भी उल्लेख मिलता है।[१९] यद्यपि वहां यह नहीं बतलाया गया है कि देवप्रभसूरि और उनके शिष्य पद्मप्रभसूरि किस गच्छ के थे; किन्तु उन्हें स्पष्ट रूप से नवाङ्गवृत्तिकार अभयदेवसूरि की परम्परा का बतलाया गया है। नवाङ्गवृत्तिकार अभयदेवसूरि चन्द्रकुल के सुविख्यात आचार्य रहे हैं, अतः उनकी परम्परा में परवर्ती काल में होने वाले देवप्रभसूरि और पद्मप्रभसूरि भी चन्द्रकुल (चन्द्रगच्छ) से ही सम्बद्ध माने जा सकते हैं। यद्यपि इनका किन्हीं समकालीन साक्ष्यों में कोई उल्लेख नहीं मिलता किन्तु चन्द्रगच्छ से सम्बद्ध वि० सं० १३३१-१३३२-१३४४ और १३५७ के प्रतिमालेखों में (जिनका इसी निबन्ध में पीछे उल्लेख आ चुका है) प्रतिमाप्रतिष्ठापक आचार्य गुणाकरसूरि के गुरु पद्मप्रभसूरि का नाम मिलता है जिन्हें उपरोक्त पद्मप्रभसूरि से अभिन्न माना जा सकता है। गुणाकरसूरि द्वारा प्रतिष्ठापित सबसे प्राचीन प्रतिमा वि० सं० १३३१ की है। इस समय तक वे अपने गुरु के पट्टधर बन चुके थे अतः यह सुनिश्चित है कि इस समय तक पद्मप्रभसूरि दिवंगत हो चुके थे और वि० सं० १२९८ में जब उन्होंने उक्त सम्मेलन में भाग लिया था, प्रौढावस्था में ही रहे होंगे।

इस प्रकार उक्त अभिलेखीय साक्ष्यों से भी इस गच्छ के विभिन्न मुनिजनों के नाम ज्ञात होते हैं किन्तु साहित्यिक साक्ष्यों की भांति इनके आधार पर भी चंद्रगच्छीय मुनिजनों की गुरु-परम्परा की किसी तालिका को संगठित कर पाना कठिन है।

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के अध्ययन के आधार पर जहां विभिन्न गच्छों की गुरु-परम्परा की लम्बी तालिकायें निर्मित हो जाती हैं और उनके इतिहास का स्वरूप स्पष्ट होने लगता है वहीं बड़ी संख्या में प्राप्त उक्त सभी साक्ष्यों के आधार पर भी चंद्रकुल (चंद्रगच्छ) के मुनिजनों की गुरु-परम्परा की संयुक्त तालिका बना पाना कठिन है। सम्भवतः इसका कारण यही प्रतीत होता है कि इस प्राचीन गच्छ की अनेक शाखायें थीं और समय-समय पर उन शाखाओं से नूतन गच्छों का उद्भव और विकास होता रहा, फिर भी कुछ शाखायें अलग-अलग रहते हुए भी स्वयं को चन्द्रगच्छीय ही कहती रहीं और वि० सं० की १७ वीं शती के प्रथम दशक तक इस गच्छ का स्वतन्त्र अस्तित्त्व प्रमाणित होता है। इसके पश्चात् इस गच्छ का उल्लेख न मिलने से यह अनुमान व्यक्त किया जा सकता है कि इस गच्छ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अनुयायी मुनिजन किन्हीं अन्य गच्छों में (सम्भवतः खरतरगच्छ, तपागच्छ अथवा अंचलगच्छ, जो चन्द्रकुल से ही उद्भूत हुए हैं) में सम्मिलित हो गये होंगे।

इस गच्छ के प्रमुख आचार्यों और ग्रन्थकारों का विवरण इस प्रकार है :

१. धनेश्वरसूरि—ये चन्द्रकुल के आचार्य वर्धमानसूरि (जिन्होंने चौलुक्यनरेश दुर्लभराज (वि० सं० १०६५/१०८०/ई० सन् १००९-१०२४) की राजसभा में चैत्यवासियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था) के प्रशिष्य तथा जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि के शिष्य थे। आचार्य पद की प्राप्ति के पूर्व इनका नाम जिनभद्रगणि था। जैसाकि इस निबन्ध के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है इन्होंने वि० सं० १०९५/ई० सन् १०३९ में चन्द्रावती नगरी में **सुरसुन्दरीचरित** की रचना की।[१०] यह कृति प्राकृत भाषा में रची गयी है। इसकी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि साध्वी कल्याणमति के आदेश पर उन्होंने इसकी। इनके रचना की द्वारा रचित किन्हीं अन्य कृतियों का उल्लेख नहीं मिलता।

२. जिनचन्द्रसूरि—ये भी पूर्वोक्त आचार्य वर्धमानसूरि के प्रशिष्य और जिनेश्वरसूरि एवं बुद्धिसागरसूरि के शिष्य थे। नवाङ्गवृत्तिकार अभयदेवसूरि इनके गुरु-भ्राता थे जिनके अनुरोध पर इन्होंने वि० सं० ११२५/ ईस्वी सन् १०६९ में **संवेगरंगशाला** की रचना की।[११] ग्रन्थ की प्रशस्ति में इन्होंने अपने गुरु जिनेश्वर एवं बुद्धिसागरसूरि की प्रशंसा की है।

३. अभयदेवसूरि—जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है ये चन्द्रकुल के आचार्य जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि के शिष्य थे। इन्होंने जैन आगम ग्रंथों में सर्वप्रधान ११ अंग सूत्रों में से ९ अंग सूत्रों पर संस्कृत भाषा में टीकायें लिखीं। इन्हें श्वेताम्बर परम्परा के प्रायः सभी गच्छों के न केवल समकालीन विद्वानों ने बल्कि परिवर्ती काल के विद्वानों ने भी बड़ी श्रद्धा के साथ प्रमाण-भूत एवं तथ्यवादी आचार्य के रूप में स्वीकृत किया है और इनके वचनों को सदैव आप्त वाक्य की कोटि में रखा है। जिन चैत्यवासी मुनिजनों का जिनेश्वरसूरि ने प्रबल विरोध किया था, उन्हीं में से एक पक्ष के अग्रगण्य एवं राज्यमान्य और बहुश्रुत द्रोणाचार्य (निर्वृत्तिकुलीन) ने अपनी प्रौढ़ पण्डित परिषद के साथ अभयदेवसूरि द्वारा रची गयी वृत्तियों का बड़े ही सौहार्द के साथ आद्योपरांत संशोधन करते हुए इनके प्रति सौजन्य प्रदर्शित किया है।[१२] अभयदेवसूरि ने वि० सं० १२२०/ ई० सन् ११६४ में **स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग** और **ज्ञातृधर्मकथा** की वृत्तियां अणहिलपुरपत्तन में समाप्त की तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन आगमों में सर्वप्रधान और वृहप्परिमाण **भगवतीसूत्र** की व्याख्या वि० सं० १२२८/ ई० सन् ११७२ में पूर्ण की। इनके द्वारा रची गयी अन्य टीकाओं का रचनाकाल ज्ञात नहीं है। उक्त टीकाओं के अतिरिक्त **प्रज्ञापना** तृतीय पद संग्रहणी, **पंचाशकवृत्ति, जयतिहुअणस्तोत्र, पंचनिर्ग्रन्थी** और **सप्ततिकाभाष्य** भी इन्हीं की कृतियां हैं। **प्रभावकचरित** के अनुसार पाटण में चौलुक्यनरेश कर्ण (वि० सं० ११२१-४९/ ईस्वी सन् १०६५-९३) के शासनकाल में इनका स्वर्गवास हुआ।[33] विभिन्न पट्टावलियों में इनके स्वर्गवास का समय वि० सं० ११३५/ ईस्वी सन् १०७९ दिया गया है और पाटण के स्थान पर कपटवज में इनका स्वर्गवास होना बतलाया गया है।[34]

४. श्रीचन्दसूरि—श्वेताम्बर श्रमण परम्परा में श्रीचन्दसूरि नामक कई मुनिजन हो चुके हैं। विवेच्य श्रीचंद्रसूरि चंद्रकुल के आचार्य सर्वदेवसूरि के संतानीय जयसिंहसूरि प्रशिष्य और देवेन्द्रसूरि के शिष्य तथा चौलुक्यनरेश जयसिंह सिद्धराज (वि० सं० ११५०-९८/ ई० सन् १०९४-४२) और कुमारपाल (वि० सं० ११९९-१२२८/ ई० सन् ११४३-७२) के समसामयिक थे। जैसाकि लेख के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है इन्होंने वि० सं० १२१४/ ईस्वी सन् ११५८ में प्राकृत भाषा में ८१२७ श्लोक परिमाण **सणंकुमारचरिय (सनत्कुमारचरित)** की रचना की। यह कृति अणहिलपुरपाटण में श्रेष्ठी सोमेश्वर के अनुरोध पर रची गयी। चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार के जीवन पर प्राकृत भाषा में रची गयी यह सबसे बड़ी रचना है। कृति के प्रारम्भ में रचनाकार ने हरिभद्रसूरि, सिद्धमहाकवि, अभयदेवसूरि, धनपाल, देवचंद्रसूरि, शान्तिसूरि, मुनिचन्द्रसूरि, देवभद्रसूरि और मलधारी हेमचन्द्रसूरि की कृतियों का स्मरण करते हुए उनकी प्रशंसा की है।[35] इनके द्वारा रचित किन्हीं अन्य कृतियों का उल्लेख नहीं मिलता और न ही इनके बारे में अन्य कोई जानकारी ही मिल पाती है।

५ बालचन्द्रसूरि—ये चंद्रगच्छीय हरिभद्रसूरि के पट्टधर तथा महामात्य वस्तुपाल-तेजपाल के समकालीन थे। जैसाकि इस निबन्ध के प्रारम्भिक पृष्ठों में कहा गया है इन्होंने महामात्य वस्तुपाल के पुत्र जैत्रसिंह की प्रार्थना पर **वसन्तविलास महाकाव्य** की रचना की। इस कृति में वस्तुपाल के उपनाम वसंतपाल के नाम से उसकी जीवनी लिखी गयी है। इस कृति में रचनाकाल नहीं दिया गया है, किंतु वस्तुपाल की मृत्यु की तिथि वि० सं० १२९६/ ईस्वी सन् १२४० दी गयी है जिससे स्पष्ट है कि उक्त तिथि के पश्चात् ही इसकी रचना हुई थी। इन्होंने कवि आसड़ द्वारा रचित **उपदेशकन्दली** और **विवेकमंजरी** पर वृत्तियां लिखीं। **करुणावज्रा-**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युद्ध नामक एकांकी नाटक भी इन्हीं की कृति है। **वसन्तविलास** के विपरीत इन्होंने उक्त कृत्तियों की प्रशस्तियों में अपनी लम्बी गुर्वावली दी है किन्तु रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया है। **उपदेशकन्दलीवृत्ति** की वि० सं० १२९६/ई० सन् १२४० में लिखी गयी एक प्रति पाटन के ग्रन्थभंडार में संरक्षित है।[३९] इससे यह सुनिश्चित है कि उक्त तिथि के पूर्व यह वृत्ति लिखी जा चुकी थी। इसका संशोधन वृहद्गच्छीय पद्मसूरि ने किया था। **विवेकमंजरीवृत्ति** का संशोधन नागेन्द्रगच्छीय आचार्य विजयसेनसूरि और उपरोक्त पद्मसूरि ने किया था। यह बात उक्त कृति की प्रशस्ति से ज्ञात होती है। नागेन्द्रगच्छीय आचार्य विजयसेनसूरि का स्वर्गवास वि० सं० १३०१/ ई० सन् १२४५ में हुआ माना जाता है, अतः यह स्पष्ट है कि उक्त तिथि के पूर्व ही **विवेकमंजरीवृत्ति** की रचना हो चुकी थी। उक्त दोनों वृत्तियों की प्रशस्तियों से यह भी ज्ञात होता है कि आसड़ के पुत्र जैत्रसिंह की प्रार्थना पर उनकी रचना की गयी।[३७]

उपदेशकंदली की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि यह कृति चंद्रमच्छीय देवेन्द्रसूरि के प्रशिष्य और भद्रेश्वरसूरि के शिष्य अभयदेवसूरि के अनुरोध पर रची गयी। यही अभयदेवसूरि बालचंद्रसूरि के प्रगुरु थे, यह बात **उपदेश-कन्दलीवृत्ति** की प्रशस्ति से ज्ञात होती है।

६. विनयचन्द्रसूरि—विनयचंद्रसूरि नामधारी मुनि द्वारा रची गयी कई कृतियां मिलती हैं। यथा **मल्लिनाथचरित, मुनिसुव्रतचरित, पार्श्वनाथचरित, कालकाचार्यकथा, दीपावलीकल्प, नेमिनाथचउपइ, उपदेशमालाकथानकछप्पय, कल्पनिरुक्त, काव्यशिक्षा (कविशिक्षा)** आदि। पूर्वकथित **पार्श्वनाथचरित** की प्रशस्ति में हम देख चुके हैं कि ये चन्द्रगच्छीय रविप्रभसूरि के शिष्य थे।[३८] जब कि **मल्लिनाथचरित** की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसके रचनाकार विजयचन्द्रसूरि रत्नप्रभसूरि के प्रशिष्य और प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे।[३९] सद्गत प्राध्यापक श्री गुलाबचंद्र चौधरी ने **कालकाचार्यकथा** के रचनाकार विनयचन्द्रसूरि को रत्नसिंहसूरि का शिष्य बतलाया है।[४०] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उक्त ग्रन्थों के रचनाकार विनयचन्द्रसूरि नामधारी ग्रन्थकार अलग-अलग व्यक्ति हैं।

कालकाचार्यकथा के रचनाकार विनयचंद्रसूरि तपागच्छ के थे। इन्होंने वि० सं० १३२५/ ईस्वी सन् १२६९ में **पर्युषणाकल्प** पर **निरुक्त** की रचना की।[४१] **बारहव्रतरास** (वि० सं० १३३८/ ई० सन् १२८२) और **नेमिनाथचतुष्पदिका** भी इन्हीं की कृतियां हैं।[४२]

प्राध्यापक चौधरी ने **पार्श्वनाथचरित** के रचनाकार विनयचंद्रसूरि का परिचय देते समय उन्हें उक्त सभी कृतियों का रचयिता बतलाया है[४३],

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो न केवल भ्रामक है बल्कि सत्य से परे है। बाद में लिखे गये कुछ ग्रंथों में भी उक्त त्रुटिपूर्ण विवरण को अक्षरशः दुहराया गया है।[४४] वस्तुतः एक ही समय में एक ही नाम वाले एक से अधिक ग्रन्थकारों के हो जाने तथा उनके द्वारा रचनाकाल आदि का स्पष्ट उल्लेख न होने से ऐसा भ्रम उत्पन्न हो जाना सामान्य बात है किंतु मूल साक्ष्यों के आधार पर इसका निराकरण भी सम्भव है।

७. **प्रद्युम्नसूरि**—ये चंद्रगच्छीय कनकप्रभसूरि के शिष्य थे। जैसाकि इस निबन्ध के प्रारम्भिक पृष्ठों में ही कहा जा चुका है इन्होंने वि० सं० १३२४/ ई० सन् १२६८ में **समरादित्यसंक्षेप** की संस्कृत भाषा में रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने वि० सं० १३२८/ ई० सन् १२७२ में **प्रवज्या-विधानटीका** की भी रचना की।[४५] इन्होंने उदयप्रभसूरि, मुनिदेवसूरि, विनयचंद्रसूरि, प्रभाचंद्रसूरि आदि ग्रन्थकारों की कृतियों का संशोधन भी किया। □

संदर्भ

१. प्रभावकचरित संपा० मुनि जिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई विविधगच्छीयपट्टावली संग्रह संपा० मुनि जिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ५३, बम्बई १९६१ ईस्वी सन्, पृष्ठ ६१, १७८ आदि

2. U, P. Shah—Akota Bronzes State Board for Historical Records and Ancient Monuments Archaeological Series, No. 1, Bombay 1959 A. D. Pp. 28,39,66.

3. Ibid P. 28

४. बृहद्गच्छीय आचार्य वादिदेवसूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि द्वारा रचित उपदेशमालाप्रकरणवृत्ति (रचनाकाल वि० सं० १२३८/ईस्वी सन् ११८२) की प्रशस्ति
Muni Punya Vijaya—Catalogue of Palm-Leaf Mss In The Shanti Natha Jaina Bhandar, Combay, G. O. S. No. 149, Baroda, 1966 A. D., Pp. 284-2 6.
तपागच्छीय मुनिसुन्दरसूरि द्वारा रचित गुर्वावली (रचनाकाल वि० सं० १४६६/ ई० सन् १४१९) :
तपागच्छीय आचार्य हीरविजयसूरि के शिष्य धर्मसागरसूरि द्वारा रचित तपागच्छपट्टावली (रचनाकाल वि० सं० १६४८/ ई० सन् १५९२) :
बृहदगच्छीय मुनिमाल द्वारा रचित बृहद्गच्छगुर्वावली (रचनाकाल वि० सं० १७५१/ ई० सन १६९५)
इस सम्बन्ध में विस्तार के लिये द्रष्टव्य पं० दलसुखभाई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मालवणिया अभिनंदनग्रंथ (वाराणसी-१९९२ ई०) में प्रकाशित बृहदगच्छ का संक्षिप्त इतिहास'' नामक लेख पृष्ठ १०५-११७

५. शिवप्रसाद—''राजगच्छ का संक्षिप्त इतिहास'' संस्कृतिसंधान जिल्द ५, वाराणसी, १९९२ ई०, पृ० ३३-४९

६. .....

आसि सिरि-बद्धमाणो पवड्ढमाणो गुण-सिरीए ॥२४०॥

.....

एगो ताण जिणेसर-सूरी सूरोव्व उक्कड-पयावो ।
तस्स सिरि-बुद्धिसागर-सूरी य सहोयरो वीओ ॥२४५॥

.....

तडरुह-अवसड्ढ महीरुहोह-उम्मूलणम्मि सुसमत्था ।
अज्झाय-पवर-तित्था पंचग्गंथी नई पवरा ॥२४८॥
तेसिं सीस-वरो धणेसर-मुणी एयं कहं पायडं
चड्डावल्लि-पुरी ठिओ स-गुरुणो आणाए पाटंतरा ।
कासी विक्कम-वच्छरम्मि ए गए वाणंक-सुन्नोडुपे
मासे भद्दवए गुरुम्मि कसिणे वीया धणिट्ठा-दिणे ॥२४९॥
सुरसुंदरीचरियं संपा० मुनिश्री राजविजय, जैन विविध साहित्य ग्रंथ-माला, ग्रन्थांक १, वाराणसी १९१६ ईस्वी, ग्रन्थकार की प्रशस्ति, पृ० २८५-२८६ ।

७. कालेणं संभूओ भयवं सिरिवद्धमाणमुणिवसभो ।
निप्पडिमपसमलच्छीविच्छड्डाखंडभंडारो ॥
ववहारनिच्छयनय व्व दव्वभावत्थय व्व धम्मस्स ।
परमुन्नइजणगा तस्स दोण्णि सिस्सा समुप्पण्णा ॥
पढमो सिरिसूरिजिणेसरो त्ति सूरे व्व जम्मि उइयम्मि ।
होत्था पहावहारो दूरं तेयस्सिचक्कस्स ॥
अज्ज वि य जस्स हरहासहंसगोरं गुणाण पब्भारं ।
सुमरंता भव्वा उव्वहंति रोमंचमंगेसु ॥
बीओ उण विरइयनिउणपवरवागरणपमुहबहुसत्थो ।
नामेण बुद्धिसागरसूरि त्ति अहेसि जयपयडो ॥
तेसि पयपंकपच्छंगसंगसपत्तपरममाहप्पो ।
सिस्सो पढमो जिणचंदसूरिनामो समुप्पन्नो ॥
अन्नो य पुन्निमाससहरो व्व निव्वावियभव्वकुमुयवणो ।
सिरिअभयदेवसूरि त्ति पत्तकित्ती परं भुवणे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

.....

छत्तावल्लिपुरीए जज्जयसुयपासणागभवणम्मि ।
विक्कमनिवकालाओ समइक्कंतेसु वरिसाण ।।
एक्कारससु सएसुं पणुवीसासमहिएसु निप्फत्ति ।
संपत्ता एसाऽऽराहण त्ति फुडपायडपयत्था ।।

.....

Muni Punya Vijaya—Ed. New Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts i Jesalmer Collection L. D. Series No-36, Ahmedabad 1972 A. D. P. 88.

८. एकस्तयोः सूरिवरो जिनेश्वरः, ख्यातस्तथाऽन्यो मुनि बुद्धिसागरः ।
तयोर्विनेयेन विबुद्धिनाऽप्यलं, वृत्तिः कृतैषाभयदेवसूरिणा ।।५।।

.....

अष्टाविंशतियुक्ते वर्षसहस्रे शतेन चाभ्यधिके ।
अणहिलपाटकनगरे कृतेयमच्छुप्तधनिवसतौ ।।१५।।
अष्टादशसहस्राणि षट् शतान्यथ षोडश ।
इत्येवं मानमेतस्यां श्लोकमानेन निश्चितम् ।।१६।।
H. R. Kapadia—Descriptive Catalogue of the Gournment Collections of Manuscripts deposted at the Bhandarkar Oriental Research Institute Volume XVII Part I, Poona—1935 A. D., Pp. 87-88.

9. Mohanlal Mehta And K. R. Chandra—Prakrit Proper Names Vol. I Part II L. D. Series No. 37. Ahmedabad—1972, Pp. 750-751.

१०. मोहनलाल दलीचंद देसाई—जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास बम्बई, १९३२ ईस्वी, पृ० २७७
हीरालाल रसिकलाल कापडिया—पाइय भाषा अने साहित्य

11. Muni Punya Vijaya—Ed. Catalogue of Palm-Leaf Mss in the Shanti Natha Jaina Bhandar, Cambay, Volume II G. O. S. No. 149, Baroda 1966 A. D. P. 67- 70

12. C. D. DalalA Descriptive Catalogue of Manuscripts in the Jaina Bhandars at Pattan Vol I, G.O.S, No-LXXVI. Baroda—1937 A. D. Pp. 331-333.

१३. समाश्रितो यः शरणं क्षमाभृद्गणेन कर्म्माशनिपातभीत्या ।
अपारपारश्रियमादधानः स चंद्रगच्छोऽस्ति भुवि प्रसिद्धः ।।१।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भव्यारविन्दप्रतिबोधहेतुरखण्डवृत्तः प्रतिसिद्धदोषः ।
श्रयन्नपूर्वेन्दुतुलामिह श्रीभद्रेश्वरो नाम बभूव सूरिः ॥२॥
तत्पट्टपूर्वाचलचण्डरोचिरजायत श्रीहरिभद्रसूरिः ।
मुदं न कस्मै रहितं विकृत्या तपश्च चित्तं च तनोति यस्य ॥३॥
श्रीमानथाजायत शांतिसूरिर्यतः समुद्रादिव शिष्य मेघाः ।
ज्ञानामृतं प्राप्य शुभोपदेशवृष्ट्या व्यधुः कस्य मनो न शस्यम् ? ॥४॥
ततो बभूवाभयदेरसूरिर्यदीयवाणी गुणरत्नदुग्धा ।
मेधाभरेन्दूल्लसिता विभाति वेलेव मध्यस्थजिनागमाब्धे ॥५॥
प्रसन्नचन्द्रोऽथ बभूव सूरिर्वक्तुं गुणान्यस्य नहि क्षमोऽभूत् ।
सहस्रवक्त्रोऽपि भुजङ्गराजस्ततो हियेवैष रसातलेऽगात् ॥६॥
अथाजनि श्रीमुनिरत्नसूरिः स्वबुद्धिनिर्द्धूतसुरेन्द्रसूरिः ।
रत्नन्ति शास्त्राण्यखिलानि यस्य स्थिरोन्नते मानसरोहणाद्रौ ॥७॥
श्रीचन्द्रसूरिः सुगुरुस्ततोऽभूत्प्रसन्नतालङ्कृतमस्दोषम् ।
चित्तं च वाक्यं च वपुश्च यस्य कं न प्रमोदोत्पुलकं करोति ? ॥८॥
सूरिर्यशोदेव इति प्रसिद्धस्ततोऽभवद्यत्पदपङ्कजस्य ।
रजोभिरालिङ्कितमौलयोऽपि चित्रं पवित्राः प्रणता भवन्ति ॥९॥
तत्पाणिपद्मोल्लसितप्रतिष्ठः श्रचिन्द्रसूरिप्रभुशिष्यलेशः ।
देवेन्द्रसूरिः किमपीति सारोद्धारं चकारोपमितेः कथायाः ॥१०॥
.....

श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकालादष्टानवत्यर्यमसंख्यवर्षे (१२९८) ।
पुष्यार्कभृत्कार्त्तिककृष्णषष्ठ्यां सन्पूर्णतामेष समाससाद ॥१४॥

उपमितिभवप्रपञ्चकथासारोद्धार— संपा०-संशोधक-पंन्यास मानविजयकान्तिविजय, आचार्यदेवश्रमिद्विजयकमलसूरि-जैन ग्रन्थमाला-ग्रन्थांक १४, पाटण, वि० सं० २००६, प्रशस्ति, पृ० १९३

१४. गुलाबचन्द्र चौधरी—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ६, पार्श्वनाथविद्याश्रम ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक २०, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७३ ई०, पृ० १२१-१२३

15. P. Peterson—Fourth Report of Operation in Search of Sanskrit Mss in the Bombay Circle Bombay, 1894 A. D, No. 1361. P. 123-124.

१६. गुलाबचन्द चौधरी, पूर्वोक्त, पृ० २९६-२९७

१७. वहीं, पृष्ठ ३५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

18. Muni Punya Vijaya—Catalogue of Palm-leaf Mss in the Shanti Natha Jaina Bhandar, Combay, Part II Pp. 257-258.

अमृतलाल मगनलालशाह—संपा० **श्री प्रशस्तिसंग्रह** प्रकाशक-श्रीदेश-विरति धर्माराधक समाज, अहमदाबाद, वि० सं० १९९३, खंड १, पृष्ठ ५, क्रमांक ९

19. C. D. Dalal—Ibid Pp-361-363.

मुनि जिनविजय—संपा० **जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह** सिंघी जैन ग्रन्थ-माला, ग्रन्थांक १८, बम्बई १९४३ ईस्वी, पृष्ठ १२

२०. मुनि जिनविजय, पूर्वोक्त, पृष्ठ ३०-३२

मुनि पुण्यविजय को पक्त प्रशस्ति खंडित रूप में प्राप्त हुई, अतः उन्होंने उसे उसी रूप में प्रकाशित किया है :

Catalouge of Palm-leaf Mss in the Jaina Bhandar Combay. Part one P. 112-118.

२१. संवत् १४१० वर्षे आषाढ़ वदि द्वितीया दिने अलेखि आनन्दरत्नगणिना परोपकराय देवकुलपाटक महाहगरे ।। श्रीमच्चंद्रगच्छनायकपुरंदर श्रीसोमसुंदरसूरि तत् शिष्योपाध्याय श्री साधुराजगणिशिष्यपरमाणुना ।। शुभं भवतु श्रीश्रमणसंघाय ।।

श्रीपिण्डविशुद्धि (सावचूरि) की पुस्तक प्रशस्ति श्री अमृतलाल मगनलाल शाह, पूर्वोक्त, भाग २, पृष्ठ २, प्रशस्ति क्रमांक ७

२२. इति श्री भद्रबाहुप्रणीत दुखमाप्राभृततश्चतुरधिकद्विशहस्त्रयुगप्रधानस्वरूपं सुखावबोधनार्थं श्रीदेवेन्द्रसूरिणा यंत्रपत्रे न्यासीचक्रे श्रीचंद्रगच्छे प्रद्योत-नाभ श्रीसोमतिलकसूरिस्तेषामुपाध्याय श्रीहंसभवनगणि प्रसादतः श्रीशिष्य श्रीकीर्तिभुवनेन श्रीमति स्तंभनकपुरे विक्रमांत संवत् विश्वमनु १४१३ वर्षे लिखितं श्रीपद्रपत्तने श्रीवासुपूज्यप्रसत्तेः वही, भाग २, पृष्ठ ३, प्रशस्ति क्रमांक ८

२३. मुनि जिनविजय—संपा० **जैन पुस्तक प्रशस्तिसंग्रह** पृष्ठ १४८, प्रशस्ति क्रमांक ३९७

२४. श्री अमृतलाल मगनलाल शाह, पूर्वोक्त, भाग २, पृष्ठ १०४, प्रशस्ति क्रमांक ३८२

25. U. P. Shah—AKOTA Bronzes Pp. 27-28

26. Ibid, Pp. 39-40.

27. Ibip, pp. 39-40.

28. Ibid, Pp. 60

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९. नवाङ्गवृत्तिकारश्रीअभयदेवसूरिसंताने छत्राउलाश्रीदेवप्रभसूरिशिष्य श्री-पद्मप्रभसूरि ।.....
U. P. Shah—"A Forgotten Chapter In the History of Svetambara Jaina Church" Journal of the Asiatic Society of Bombay Vol 30, Part I, 1955 A. D. Pp. 100-113.

३०. द्रष्टव्य-संदर्भ क्रमांक ६

३१. संदर्भ क्रमांक ७

३२. मोहनलाल दलीचन्द देसाई—**जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास** पृष्ठ २१६-२१७

३३. "अभयदेवसूरिप्रबन्ध" **प्रभावकचरित** संपा० मुनि जिनविजय पृष्ठ १६१-१६६

३४. मोहनलाल मेहता, पूर्वोक्त, पृष्ठ ३९८
"बृहत्पोषालिकपट्टावली" में इनका स्वर्गवास काल वि० सं० ११३९ दिया गया है । केचिदेकोनचत्वारिंशदधिकैकादशशते ११३९ नवांगवृत्ति-कृत श्रीअभयदेवसूरिः स्वर्गभाक् ।
विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह संपा० जिनविजय, पृष्ठ २०

३५. लालचन्द भगवानदास गांधी—**ऐतिहासिक लेख संग्रह** श्रीसयाजी साहित्यमाला, पुष्प ३३५, बड़ोदरा, १९६३ ईस्वी, पृ० ११४

३६. द्रष्टव्य, संदर्भ क्रमांक १२

३७. भोगीलाल सांडेसरा—**महामात्य वस्तुपाल का साहित्यमंडल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन**—सन्मति प्रकाशन न० १५, जैन संस्कृति संशोधन मंडल, वाराणसी, १९५९ ईस्वी, पृष्ठ १०६-१०९

३८. द्रष्टव्य-संदर्भ क्रमांक १४

39. Jinaratankosha, P. 303

४०. **जैन साहित्य का वृहद् इतिहास** भाग ६, पृष्ठ २११

४१-४२. मोहनलाल दलीचंद देसाई—**जैन गूर्जरकविओ** नवीन संस्करण, संपा० डा० जयन्त कोठारी, महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई १९८६ ई०, पृष्ठ १२-१३

४३. **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास** भाग ६, पृष्ठ १२२-१२३

४४. जयकुमार जैन—**पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन** मुजफ्फरनगर, १९८७ ईस्वी, पृष्ट ५६-५७

45 Jinaratnakosha, P. 272.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान–द्वात्रिंशिका में ध्यान का स्वरूप

☐ समणी चैतन्यप्रज्ञा

जैन दर्शन अनेकांतवादी दर्शन है। इसमें किसी भी तत्त्व अथवा क्रिया के विवेचन में एक दृष्टि का सहारा नहीं लिया जाता है अपितु अनेक कोणों से विवेच्य वस्तु अथवा क्रिया पर चिंतन किया जाता है। वस्तु स्वरूप का निश्चय ऐकान्तिक रूप से संभव नहीं। इस सचाई को मध्य नजर रखते हुए अनेकांतिक शैली का सहयोग लेना जैनाचार्यों की अविरल विशेषता रही है। 'अनुयोग-द्वार' जैनागम इसका पुष्ट प्रमाण है। वहां किसी भी वस्तु के विश्लेषण में कम से कम चार अनुयोगों (आयामों) से सोचना अनिवार्यतम माना गया है और यदि विवेचक विशेषज्ञ है तो चाहे जितनी अपेक्षाओं से सत्य की उद्भावना कर सकता है—

जत्थ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं।
जत्थ वि य न जाणेज्जा चउक्कयं निक्खिवे तत्थ ॥[1]

"ध्यान-द्वात्रिंशिका" जो सिद्धसेन दिवाकर जैसे सूक्ष्म मेधा सम्पन्न अल्प शब्दों में अनल्प अर्थ को व्यक्त करने में समर्थ आचार्य के द्वारा विरचित है, उसमें ध्यान के स्वरूप का जिज्ञासा, योग्यता, साधन, क्षेत्र, भाव, विकास-क्रम आदि अनेक संदर्भों में स्पष्टीकरण किया गया है। इस स्वरूप का प्रतिपादन ही प्रकृत लेखन का प्रतिपाद्य है।

जिज्ञासा

आवश्यकता नवीन उत्पादन की प्रेरक होती है। ऐसे ही जिज्ञासा से दिशा का निर्धारण व लक्ष्य की स्पष्टता (सिद्धि) होती है। प्रकृत "द्वात्रिंशिका" के तृतीय श्लोक में ध्यान साधक की मूलभूत जिज्ञासा को उभारा गया है।

आत्मजिज्ञासा ध्यान अथवा साधना की आधार है। कोऽहं (आत्म-जिज्ञासा) से ही ध्यान का प्रारम्भ होता है और "सोऽहं" (आत्म-सिद्धि) में ध्यान की पूर्णता। इन संदर्भ में यहां भी प्रश्न किया गया है—'वर्तमान में मैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या हूं और क्या नहीं हूं ? मैं एक हूं या अनेक ?'

किमत्राहं किमनहं किमनेकः किमेकधा ।।[3]

योग्यता

"ध्यान द्वात्रिंशिका" में ध्यान का अधिकारी कौन हो सकता है, इस महत्त्वपूर्ण तथ्य पर बहुत थोड़े शब्दों में प्रकाश डाला गया है। ध्यान साधक की योग्यताएं क्या-क्या होनी चाहिए इसकी ओर इंगित करते हुए जिन अर्हताओं का निर्देश किया है वे आधुनिक 'SWOT' की परीक्षण पद्धति से अर्थत पूरा साम्य रखती है।

'SWOT' के अनुसार लक्ष्य निर्धारण के पूर्व व्यक्ति को अपनी लक्ष्यानुसारी योग्यताओं (Strength), लक्ष्य-सिद्धि में रूकावट करने वाली अपनी कमजोरियों (Weakness), लक्ष्य-प्राप्ति के अवसरों (Opportunity) व मार्ग में आने वाली बाधाओं (Threats) को सर्वप्रथम जान लेना चाहिए।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने ठीक इन्हीं योग्यताओं का निर्देश किया है—

श्रद्धावान् विदितापाय परिक्रांतपरीषहः ।

भव्यो गुरुभिरादिष्टो योगाचारमुपाचरेत् ।।[4]

अर्थात् ध्यान साधक में श्रद्धा और भव्यता (ध्यान करने की सामर्थ्य) होनी चाहिए। जिसने अपने दोषों को जान लिया है (विदितापायः), जो लक्ष्य सिद्धि के पथ पर आने वाली बाधाओं से जूझ सकता है (परिक्रांतपरीषह) व जिसे गुरु के द्वारा ध्यान करने का अवसर उपलब्ध हुआ है वही ध्यान साधना का अधिकारी हो सकता है।

साधन

आंतरिक दृष्टि से ध्यान योग की अर्हताओं को अर्जित करने के पश्चात् व्यक्ति अपने सिद्धि क्षेत्र में उतरता है। उतरने के तत्काल बाद उपलब्धि नहीं होती है। उसे उपलब्धि के लिए अनेक अंतरंग एवं बहिरंग प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। "द्वात्रिंशिका" में अनेक ऐसे श्लोक हैं जो ध्यान साधक को लक्ष्यसिद्धि के लिए लगभग उन्हीं अंगों की साधना का निर्देश करते हैं, जिनका जिक्र पतंजलि ने 'अष्टांग योग"[5] के रूप में अपने "पातंजलयोगदर्शनम्" में किया है।

अहिंसा

पतंजलि ने यम के अंतर्गत अहिंसा सत्य आदि के पालन पर बल दिया है "द्वात्रिंशिका" में अहिंसा की प्रधान रूप से चर्चा मिलती है। इसमें कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया हैं कि अहिंसा के अंगभूत दया व अनुकम्पा से साधक के भीतर रही हुई परूषता व कृपणता (क्रूरता) की परिशुद्धि होती है । ध्याता किसी के साथ क्रूर या कठोर व्यवहार नहीं कर सकता । ध्यान की प्रशस्तता करुणा की वृद्धि करती है । वैसे देखा जाए तो 'व्रत' और 'अव्रत' की बात कहकर सिद्धसेन दिवाकर ने संपूर्ण यम की साधना का समावेश कर लिया हैं । व्रत और उपव्रत की साधना लक्ष्य की सतत स्मृति और भावक्रिया की पुष्टि के लिए आवश्यक हैं—

घृणानुकम्पे पारूष्यकार्पण्यपरिशुद्धये ।
व्रतोपव्रतयुक्तस्तु स्मृतिस्थैर्योपपत्तये ।।[7]

अन्तःशुद्धि

जहा तक पतंजलि के 'नियम'[8] के स्वरूप को समझे तो वहां अन्तः के साथ साथ बाह्य शुद्धि पर भी बल दिया गया है । सिद्धसेन दिवाकर ने बाह्य शुद्धि की ओर कोई संकेत नहीं किया है, किन्तु आंतरिक शुद्धि की बात "शेषाशयविशोधनः"[9] पद से अवश्य अभिव्यक्त की है । उन्होंने स्वाध्याय पर बल देते हुए यहां तक कहा है कि मोक्ष की सिद्धि तत्त्वज्ञान से ही सम्भव है—"तत्त्वज्ञानं पर हितम" । तपस्या का समर्थन "उपधानविधिश्चित्र"[10] कहकर किया है ।

आसन

शारीरिक सुदृढ़ता व स्वस्थता ध्यान की प्रथम आवश्यकता है । तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने उत्तम शारीरिक संगठन वाले व्यक्ति ही ध्यान कर सकते हैं, इस बात को "उत्तमसंहननस्य [10] पद से व्यक्त किया है । शारीरिक स्थिरता[11] सुदृढ़ता हेतु साधक के लिए आसन (शारीरिक व्यायाम), प्राणायाम व प्रत्याहार की साधना का विधान किया गया है । शरीर जितना सुदृढ़ होगा एकाग्रता उतने ही दीर्घकाल तक सम्भव हो सकेगी । इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर इंगित करते हुए कहा गया है—

स्वस्तिकाद्यासनं कुर्यादिकाग्रसिद्धये ।[12]

प्राणायाम

प्राण के नियंत्रण व मन की स्थिरता में प्राणायाम बहुत लाभप्रद है । शारीरिक व मानसिक जड़ता तथा दोषों को दूर करने में व स्फूर्ति पैदा करने प्राणायाम की उपयोगिता निर्विवाद है । इतना ही नहीं अनेक प्रकार की लब्धियों (सिद्धियों) की प्राप्ति प्राणायाम से होती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणायामो वपुश्चित्तजाड्यदोषविशोधनः ।
शक्त्युत्कृष्टकलत्कार्यः प्रायेणैश्वर्यसत्तमः ।।[११]

प्रत्याहार व धारणा

प्रत्याहार की साधना इन्द्रियों की अपने विषयों के प्रति होने वाली गति को निरूद्ध करने से ही संभव है ।[१४] और धारणा ध्यातव्य विषयों में एकाग्र होने का नाम है ।[१५] ध्यान द्वात्रिंशिका में प्रत्याहार व धारणा शब्द का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं हुआ है किन्तु उसकी ओर संकेत २५ वें श्लोक में अवश्य किया गया है । वहां पर क्रूरता, क्लेश-युक्त एवं हिंसात्मक निमित्तों से दूर रहने की बात कही गई हैं । इस हेतु ध्यातव्य विषय मन, शब्दादि-विषय एवं शरीर-दर्शन पर बल दिया गया है—

क्रूरक्लिष्टवितर्कात्म-निमित्तामयकण्टकान् ।
उद्धरेन् मतिशब्दादिवपुः स्वाभाव्यदर्शनात् ।।[१६]

ध्यान

जैन परम्परा सम्मत प्रशस्त ध्यान के दो प्रकार हैं—धर्म्य व शुक्ल । इन दोनों का उल्लेख प्रस्तुत द्वात्रिंशिका में हुआ है । आस्रव (बन्धन की प्रक्रिया) के निरोध के फलस्वरूप कषायों (आंतरिक दोषों) का उपशमन ही धर्म ध्यान का लक्षण बताया गया है । इससे आगे साधक शुक्ल ध्यान की ओर अग्रसर होता है । जहां पूर्ण विशुद्धि को पाता है । ध्याता और ध्येय साधक और साध्य एक हो जाते हैं ।

इत्यास्रवनिरोधोऽयं कषायस्तम्भलक्षणः ।
तद्धर्म्यमस्माच्छुक्लं तु तमःशेषक्षयात्मकम् ।।[१७]

समाधि

समाधि चेतना की निर्विकल्प दशा है । इसमें ध्याता, ध्यान व ध्येय का पृथक्करण लय को प्राप्त हो जाता है । सर्व जागतिक अथवा बाह्य प्रपंच से उपरत होकर अबाधित आनन्दानुभूति का नाम ही समाधि है । इस दशा का मात्र अनुभव ही संभव है, निर्वचन नहीं । इस अलौकिक स्थिति को चित्रित करते हुए कहा गया है—

सर्वप्रपंचोपरतः शिवोऽनन्यपरायणः ।
सद्भावमात्रप्रज्ञप्तिर्निरूपारव्योऽथ निर्वृतः ।।[१८]

पातंजल-योग-दर्शन में समाधि का स्वरूप उपरोक्त रूप से ही प्रकट किया गया है । और कुछ नहीं केवल चेतना की अनुभूति का नाम ही समाधि ।[१९] यह स्थिति शुक्ल ध्यान के अन्तिम चरण समुच्छिन्न क्रिया अनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृत्ति से संबंधित है। सिद्धसेन दिवाकर ने इसे एकाग्रता मुक्त सचेतन प्रवृत्ति कहा है—

प्रदीपध्मानवद्ध्यानं चेतनावद्विचेष्टितम् ।[२०]

स्थान

ध्यान की साधना गन्दे व शोरगुल वाले स्थानों पर सम्भव नहीं है। आसन, प्राणायाम के लिए शुद्ध हवादार व प्रकाश वाला स्थान आवश्यक है। ध्यान व समाधि में एकाग्रता अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाती है। ऐसी स्थिति में आसपास के वातावरण में ध्वनि प्रकम्पनों की अधिकता साधक के लिए विघ्न पैदा करने वाली होती है। सिद्धसेन ने इस हेतु निर्दिष्ट किया है कि पवित्र स्थान जिसमें पशु, मच्छर, गन्दगी व ध्यान में बाधा डालने वाले अन्य तत्त्वों का अभाव हो, वही वस्तुतः ध्यान साधना के योग्य स्थल (क्षेत्र) है।

शुचौ निष्कंटके देशे सम्प्राणवपुर्मना :
स्वस्तिकाद्यासनं कुर्यादिकाग्रसिद्धये ।।[२१]

गीता में भी इसी बात की ओर संकेत किया गया है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमानसमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।।[२२]

अर्थात् योगाभ्यास के लिए एकांत में जाकर भूमि पर क्रमशः कुशा, मृग-छाल तथा मृदु वस्त्र बिछाए। पवित्र स्थान में स्थित ऐसा आसान न तो अधिक ऊंचा हो और न अधिक नीचा। इसके बाद उस पर दृढ़तापूर्वक बैठकर व मन, इन्द्रियों को वश में करके अर्थात् मन व शरीर को स्थिर करके हृदय की शुद्धि के लिए मन की एकाग्रता के साथ योग का अभ्यास करे।

विकासक्रम

ध्यान करते हुए साधक कहां तक पहुंचा है इसे जानने के लिए विकास का क्रम होना अत्यावश्यक है। इस दृष्टि से ध्यान द्वात्रिंशिका का अध्ययन करने पर चार सोपान नजर आते हैं।

अशुभ परिहार

विकास का क्रम अशुद्धि को दूर करने के साथ प्रारम्भ होता है। व्यक्ति के आचार और व्यवहार को विकृत करने वाली उसकी आंतरिक क्रूरता व क्लेश जनक वृत्तियां हैं। उनका रूपान्तरण ध्यान की प्रथम उपलब्धि है। पतंजलि ने भी अष्टांग योग की साधना से अशुद्धिक्षय और ज्ञान-वृद्धि रूप फलप्राप्ति होती है ऐसा कहा है।[२३]

रूपांतरण का उपाय सिद्धसेन ने प्रेक्षा बताया है। मन की विभिन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवस्थाओं की प्रेक्षा, विषय-स्वरूप की प्रेक्षा व शरीर की प्रेक्षा।[२४]

काय-प्रेक्षा के अन्तर्गत चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा के द्वारा हम अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के उन स्रावों पर नियंत्रण स्थापित कर सकते हैं, जिनके कारण व्यक्ति में हिंसा, क्रूरता, काम, क्रोध, लोभ आदि निषेधात्मक भाव उत्पन्न होते हैं।

मन की प्रेक्षा विचारों की अल्पता, तनाव-मुक्ति तथा एकाग्रता-सिद्धि के लिए जरूरी है। और विषय स्वरूप का चिंतन विषयों के प्रति होने वाली ऐन्द्रयिक चंचलता का निवारण करता है। वस्तुतः इन्द्रिय तृप्ति की इच्छा को त्यागे बिना कोई भी योगी नहीं बन सकता—

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।[२५]

सत्य संधान

दूसरा स्तर होगा कि साधक सत्य का अन्वेषण करे। कहे हुए सत्य को मानकर ही न चले बल्कि स्वयं जाने—"अप्पणा सच्चमेसेज्जा।"[२६] अनेकान्तात्मक वस्तु स्वरूप को अपनी प्रज्ञा से जानने का प्रयत्न करे। सत्य का अनुसंधान एकाग्र चित से ही सम्भव है। वस्तु-स्थिति की ज्ञप्ति से वैचारिक आग्रह दूर होता है। अहंकार का विलयन सत्य के साक्षात् से सहज संभव है। सत्य की खोज का फलित है संघर्ष, कलह, मानसिक असंतुलन व वैचारिक आग्रह आदि का परिहार व दृष्टिकोण की निर्मलता।

धर्म ध्यान

यद्यपि सत्य संधान धर्म-ध्यान का ही अंग है फिर भी प्रस्तुत द्वात्रिंशिका में धर्म्यध्यान का जो लक्षण निर्दिष्ट है वह कषायस्तम्भन है। आंतरिक चिरकालिक दोषों का शोधन इस भूमिका पर अधिकतम संभव है। बन्धन निरोध की इस स्थिति में पहुंचा हुआ साधक लक्ष्य के सर्वोत्तम व सर्वोत्कृष्ट ध्यान शुक्लध्यान में प्रवेश करता है।[२७]

शुक्लध्यान

यह ध्यान की चरमावस्था है। शुक्लध्यान में स्थित साधक तीव्रता से शोधन की क्रिया करता है। प्रथम चरण को पारकर द्वितीय चरण में प्रविष्ट साधक केवल विशुद्धि की ओर अग्रसर होता है और तृतीय तथा चतुर्थ चरण में पूर्ण शुद्धि कर स्वस्वरूप में अवस्थित हो जाता है। उसमें निरतिशय ज्ञान 'कैवल्य" प्रकट (उत्पन्न) हो जाता है। इसे सिद्धसेन अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेहारम्भणचारोऽस्ति केवलोदीरणव्ययौ ।
अनन्तैश्वर्यसामर्थ्यं स्वयं योगी प्रपद्यते ॥[२८]

'ध्यान द्वात्रिंशिका" में निहित ध्यान-स्वरूप का यह शब्दानुसारी लघु निदर्शन है । अर्थानुसारी विवेचन अनुभूति, समय व विस्तार सापेक्ष होने से स्वयं साधक के लिए गम्य है । वस्तुतः प्रकृत "द्वात्रिंशिका" में सिद्धसेन दिवाकर ने अपनी प्रतिभा से सूत्र शैली में ध्यान के विराट दर्शन को अभिव्यक्त किया है । प्रस्तुत लेख उसकी प्रस्तुति का अतिलघु प्रयत्न मात्र है । □

संदर्भ सूची

१. अनुयोग द्वार, सू० ७/१
२. ध्याद-द्वात्रिंशिका, श्लो० ३
३. वही, श्लो० २२
४. पातंजलयोग दर्शनम्, २/२९
५. वही, २/३०
६. ध्यान-द्वात्रिंशिका, श्लो० १८
७. पातंजल योग, २/३२
८. ध्यान द्वात्रिंशिका, श्लो० १९
९. वही, श्लो० १९
१०. तत्त्वार्थ सूत्र, ९/२७
११. पातंजल, २/४६
१२. ध्यान-द्वात्रिंशिका, श्लो० २३
१३. वही, १/२४
१४. अभिधान चिंतामणि, १/८३
१५. वही, १/८४
१६. ध्यान-द्वात्रिंशिका, श्लो० २५
१७. वही, श्लो० २७
१८. वही, श्लो० ३२
१९. पातंजल, ३/३
२०. ध्यान-द्वात्रिंशिका, श्लो० ३३
२१. वही, श्लो० २३
२२. श्रीमत् भगवत्गीता, ६/११
२३. पातंजल योग, २/२८
२४. ध्यान-द्वात्रिंशिका, श्लो० २५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५. श्रीमद् भगवद् गीता, ६/२
२६. उत्तराध्ययन, ६/२
२७. ध्यान-द्वात्रिंशिका, श्लो० २७
२८. वही, श्लो० २८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालुयशोविलास में चित्रात्मकता

☐ समणी सत्यप्रज्ञा

हृदय के सौम्याकाश में प्रसृत शैत्य पावनत्व सञ्चारिणी अनुभूति-ज्योत्सना तीव्र से तीव्रतर होती हुई सचेतन मन-प्रदेश को आह्लादित करती है उसमें बिम्बात्मकता, चित्रात्मकता प्राणस्वरूप अनुस्यूत होती हैं। वही काव्य हैं। कवि—अनुभूति की यथातथ्य अभिव्यक्ति बिम्ब है। सी० डे० लेविस ने बिम्ब की परिभाषा करते हुए बिम्ब की चित्रात्मकता का स्पष्ट उल्लेख किया है—In its simplest form, it is a picture made out of words. अर्थात् सरलतम रूप में बिम्ब को शब्द-चित्र कह सकते हैं।

वस्तुतः बिम्ब कवि द्वारा अपने विचारों को उदाहृत, सुस्पष्ट एवं अलंकृत करने के लिए प्रयुक्त एक लघु शब्द चित्र है। यह किसी अन्य वस्तु के साथ वाच्य या प्रतीयमान साम्य या उपमा द्वारा प्रस्तुत किया गया एक वर्णन या विचार है। कवि ने अपने वर्ण्य विषय को जिस ढंग से देखा, सोचा या अनुभव किया है। बिम्ब उसकी समग्रता, गहनता या विशदता के कुछ अंश को अपने द्वारा उद्बुद्ध भावों एवं अनुसंगों के माध्यम से पाठक तक संप्रेषित करता है।[1]

बिम्ब शब्द-अंग्रेजी के इमेज का पर्याय है। इमेज का अर्थ है—किसी वस्तु का मनश्चित्र या मानसी प्रतिकृति[2] और कल्पना अथवा स्मृति में उपस्थित चित्र अथवा प्रतिकृति।[3] जेम्स० आर० क्रूजर के अनुसार जो वस्तु सामने नहीं हैं, उसे इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य बना देना बिम्ब का कार्य है। बिम्ब किसी अमूर्त विचार या भावना की पुनर्निर्मिति है।[4] स्वयं दृष्ट, अनुभूत एवं प्रत्यक्षीकृत वस्तुओं का पाठक या श्रोता के सामने प्रत्यक्षीकरण बिम्ब है।[5] आधुनिक हिन्दी आलोचक काव्य बिम्ब में चित्रात्मकता एवं इन्द्रिय गम्यता को अनिवार्य मानते हैं।

जीवन से हटकर काव्य को नहीं समझा जा सकता। काव्य जीवन है। जीवन की संवेदनाएं हैं। जीवन का आहार है। गेय काव्य तन्मयता के लिए वरदान है।

एक्सरे शरीर के अवयवों का तो आन्तरिक चित्र प्रस्तुत कर देता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है; अन्तरतम का नहीं। पर सफल काव्य वह है जिसमें कवि अपने प्रतिपाद्य का वस्तुचित्र खींच सके और काव्य चित्रपट की भांति दृश्यमान हो उठे।

राजस्थानी भाषा में तेरापन्थ वर्ण-वृत्तों का साहित्य एक विशद शोध विषय है—काव्यात्मक अनुभूति का यथार्थ बिम्बन स्वतः एक चमत्कार पैदा कर देता है।

राजस्थानी काव्य जगत् की एक विशद् और अप्रतिम कृति है—कालुयशोविलास। इसमें अष्टम आचार्य पूज्य कालूगणि का जीवन वृत्त खींचा गया है—यह एक आत्म पुरुष; अध्यात्म पुरुष की जीवन यात्रा है, जिसे आत्मपुरुष बन कर ही समझा जा सकता है; आत्मसात् किया जा सकता है, और इस अद्वेत की स्थिति से ही जो कुछ उभरा—वही इस काव्य की अस्मिता है।

सुन्दर शब्द संयोजना या भाव भाषा की सज्जा में कवि ने अपनी प्रतिभा नहीं समेटी, पर, सहज रूप से ही अर्थानुकूल शब्द की चित्र-विचित्रता बनती गई। भाषा का वैज्ञानिक विधान और छंद वस्तुतः नाद सौन्दर्य को अवसरानुरूप उच्च नम्र, समतल, विस्तृत और सरस बनाने में समर्थ हैं।

एक ओर विवेच्य-महाकाव्य के प्रत्येक पद्य में जहां कवि की विनीत निश्छलता के हस्ताक्षर हैं तो दूसरी ओर काव्य में उभरे सजीव बिम्ब कवि की सशक्त लेखनी के दस्तावेज हैं। यहां शब्द तुलिका से जो अलंकारमय चित्र उभरते हैं, वे निस्सन्देह रूप से नैसर्गिकी-प्रतिभा के अनाविल उत्स से सम्भूत हैं। साध्वी-प्रमुखा कनकप्रभाजी के शब्दों में—"एक तराशी हुई आवृत्त प्रतिमा का अनावरण हो रहा है। अथवा शब्दों के आवरण को बेंधकर कोई सजीव आकृति बाहिर झांक रही हैं।" जहां शब्दचित्र सजीव हो जाते हैं। वही कमनीयता एवं रमणीयता लास्य करती हैं।

इस प्रतिभा दर्शन की भूमिका को लम्बाने की अपेक्षा शब्द से उभरते चित्रों का सीधा प्रसारण ही यहां काम्य है।

भाव, कला, बुद्धि, शैली, उद्देश्य और चरित्र-चित्रण की अनेक उद्-घोषणाएं यहां स्पष्ट होती है। सर्वप्रथम हम कालूयशोविलास में प्राप्त चित्रों का वर्गीकरण स्रोतों के आधार पर करेंगे। उसमें दो वर्ग मुख्य हैं मानवीय और मानवेतर। मानवीय बिम्बों में आचार्यश्री कालु और मुनि तुलसी आदि के बिम्ब परिग्रहीत हैं। मानवेतर बिम्बों के अनेक वर्ग हैं, जिनमें प्रकृतिगत ऋतुओं का वर्णन मुख्य हैं भावगत चित्रण भी भय-हर्ष, चिन्ता आदि के रूपों में व्यक्त हुआ है।

मानवीय बिम्ब

आचार्यश्री कालुगणि—इस काव्य की आत्मा हैं। आज तेरापन्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के विस्तार-विकास की प्रेरणा का बहुत कुछ श्रेय जाता है— अष्टमाचार्य पूज्य कालुगणि को। इस काव्य में उनके अनेक बिम्ब मिलते हैं। बालक, वैरागी, मुनि, शिष्य, पदयात्री, आचार्य, गणि, अनुशास्ता, वेदना में समाधिस्थ आदि।

विक्रम संवत् १९३३ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया के दिन एक शिशु का जन्म हुआ। माता-पिता ने जैसे ही उसके मुखमंडल को देखा। देखते ही रह गए क्योंकि कुछ जन्मजात तेज झलक रहा था।

"निलवट नीको अष्टम-शशि सम
लोचन युगल चरूड़ो रे।[६]

बालक कालु जैसे ही अनुपमेय संघनन की सौम्यता व स्थित प्रज्ञा के धनी पंचम आचार्य मघवागणि की छवि देखते हैं, विभोर हो जाते हैं। अपने गुरु का प्रथम दर्शन ही उन्हें अभिभूत बना देता है। गुरु दर्शन से उनकी स्थिति का श्लिष्ट चित्र दर्शनीय है।

"वर वदनारविन्द री आभा, निरख न नयन अघावै।
शारद शांत शशांक चन्द्रिका, शीतलता सरसावै।"[७]

गुरु की छवि मन में बसाए बालक कालु बालक वैरागी बन गया और दीक्षा के लिए तैयार हो गया। सज्जित वैरागी का अन्तरंग व बाह्य दोनों व्यक्तित्वों का एक साथ चित्रांकन दृश्य को साकार कर देता है।

"चपल तुरंगे चढ़िया चंगे, अंगे बसन बखाण,
उज्ज्वल रंगे अधिक उमंगे, संगे सकल सुजाण।
भूषण भूषित अंग अदूषित, झूसित मनु शुभ झाण,
सद्गुण सदन मदन मद मुषित, शम रस पूषित जाण।"[८]

राग के संसार से विदा ले वैरागी कालु मुनि बन जाता है। गुरु चरणों में मुनि कालु की भावी तेजस्विता का दर्शन अद्भुत है।

"स्वाती नखत सुगुरुकर शुक्ति मुक्ताफल निरमाण।
हीरो शासन मुकटे मंढियो शोभैला ज्यूं भाण॥"[९]

गुरु शिष्य का सम्बन्ध भारतीय परम्परा में पूज्य पूजक का सम्बन्ध रहा है। गुरु जब शिष्य के सिर पर अपना वरद-हस्त रख देते हैं उस समय शिष्य के लिए तो मानो संसार में उपलब्ध-अनुपलब्ध समस्त सम्पदाएं एक साथ साकार हो जाती है और शिष्य की शिष्यता भी तभी सार्थक है जब गुरु का हाथ अपने सिर पर रखाने की पात्रता उसमें हो। विनीत शिष्य और उदार चेता गुरु का यह बिम्ब बहुत ही रम्य बन पड़ा है।

'कर सिर धर देवै सीखड़ली,
मीठी मनु शाकर सूखड़ली।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुति सुणतां पावै प्रीतड़ली, सौभाग्य घड़ी,
समये-समये शिक्षा उचरै,
गुरु-वदन शशि वच अमिय झरै,
कालू दिल कमल विकास वरै।"[९]

मुनि चर्या का बीहड़ मार्ग और कोमल वय में शिशु मुनि। मुनिचर्या का एक अनिवार्य अंग है—प्रतिलेखन। सर्दी हो या गर्मी, वर्षा हो या आतप दोनों समय विधिवत् प्रतिलेखन तो करना ही है। प्रतिलेखना के लिए राजस्थानी भाषा में शब्द है—पडिलेहण। एक दिन मुनि कालु पडिलेहण कर रहे थे। ठिठुरती सर्दी का समय। पूरे शरीर में कंपकंपी छूट रही थी सहज स्वभावोक्ति में साकार होता उसी का एक चित्रांकन—

"एक दिन शिशु पडिलेहण करतो
दीठो डाँफर स्यूं ठंठरतो
तरुवर पल्लव ज्यूं थरहरतो।"[१०]

जाड़े में कंपकंपाने वाला यह दृश्य किसी अतीत की घटना का ही नहीं वर्तमान में होने वाली क्रिया का भी सजीव दृश्य प्रस्तुत कर देता है।

समय का योग था। आचार्य मघवा का स्वास्थ्य साथ न दे रहा था। गुरु की वेदना व शिष्य का मुरझाया हुआ हृदय इस शब्दांकन से एक साथ साकार हो जाता है—

"भारी शरीर, कुरव उठणै री बीमारी
उन्हालै री रातां, बा प्यास करारी
मुख-थूक सूक रसना करड़ी कांटें सी
बणज्या, बेचैनी वणी रहें कम-बेसी
अस्वस्थ अंग मघवा रो रहणै लाग्यो
शिशु कालू रो कोमल हिरदो कुम्हलायो।"[११]

अचानक असमय ही गुरु मघवा का स्वर्गारोहण हो गया और सुकुमार दिल कालू क्षण-क्षण गुरु स्मृतियों में ही लीन हो गए—

इसी लीनता से उभरती एक गुरु प्रतिमा—

"मुखड़ै रो बो मुलको पलको,
पल-पल दिव्य दिदार,
हलको वड़ग्यो भानुड़ै रो भी भलको निहार।"[१२]

मघवागणि के असामयिक निधन से पीछे की व्यवस्था भी अधर में रह गई। पर संघ ने सामूहिक रूप से आचार्य पर के लिए डालिम मुनि को चुना। मुनि कालू की आंखों को तृप्ति प्रदान करने वाला आचार्य डालगणि का चेहरा बड़ा ही मोहक बन पड़ा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"लोक विलोकै, कर्‌या विलोचन, हर्‌या भर्‌या हद हेज जी,
दर्शन कर्‌या कि संचित पातक झर्‌या न लागै जेज जी।"[13]

पूज्य डालगणि के सान्निध्य में रहते हुए मुनि कालू अपना सर्वांगीण विकास करते हैं, और डालगणि अपने उत्तराधिकारी के रूप में मुनि कालू का नाम लिख देते हैं। जैसा परम्परा है उत्तराधिकार सौंपने की बाह्य रश्म के तौर पर पछेवड़ी पहनाते हैं। मुनिश्री मगनलालजी के आग्रह-निवेदन से नई पछेवड़ी सम्भालते आचार्य कालू की छवि दिव्य छटा बिखरने लगती है।

डीले उपरी दुपटी दीपै धवल प्रकाश,
पूज्य वदन रयणी, घणी प्रकटी ज्योत्स्नाभास।[14]

आचार्यश्री तुलसी कई बार फरमाते हैं पूज्य कालूगणि के जो भी चित्र उपलब्ध हैं पूर्ण यथार्थ नहीं। यदि मैं चितेरा होता तो हू-ब-हू चित्र खींच देता। पर शब्दों के माध्यम से उभरता कालूगणि का यह चित्र किसी छाया-चित्र से कम नहीं प्रतीत होता। मुनि कालू के कन्धों पर जब शासन का भार आ जाता है आचार्यपद का दायित्व उनके चेहरे की कान्ति में नया निखार ला देता है। वही लुभावना दृश्य यहां आकार ले लेता है। शब्दों की लचक स्वरूप को भी प्रकट कर देती है।

'चलकतो चलक-चलक चेहरो, मलकतो श्रमण संघ सेहरो।
विलोकन खलक-मुलक भेरी, अलख छक खमां-खमा केरो।'[15]

गुरु के वर्धापन का अवसर हो और शिष्य का पोर-पोर अनिर्वचनीय दिव्यता से सरोबार हो जाए—इसी में गुरुता और शिष्यता सार्थक है। अपने गुरु की दिव्यता का चित्रण बहुत ही कमनीय बन गया है।

"म्हारै गुरुवर रो मुखड़ो है खिलतो फूल गुलाब सो।
मुखड़ै री छवि मनहार मुखड़ो शशांक सौम्याकार।"
मुखड़ो अमन्द अविकार भलकै ललित लिलाड़।[16]

साधु-समाज का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है 'तिन्नाणं तारयाणं' तैरते हैं औरों को तारते हैं और इसका महत्वपूर्ण साधन बनता है प्रवचन-उपदेश। सभ्य सभा उत्कंठा के अतिरेक से चित्रित हो जाए—पूरी तरह से प्रवचन पीयूष का पान करने में डूब जाए—इसी में वक्ता का साफल्य है। यहां एक स्पष्ट चित्र है।

सुधा-झरै मुख-निझरै, छवि चकोर अनिमेष,
बासर में हिमकर रमें या कालू गुरु एष,
सभा सभासद स्व पर दर्शणी चित्रित चित आलोचै
चरचा-चरचा सदा चरचता मौन खड़या कोई सोचै॥[17]

'आत्मना युद्धस्व' का महान् लक्ष्य लिए हुए वे निरन्तर युद्ध क्षेत्र में कटिबद्ध थे। उसी आत्म सैनिक की एक छवि—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"संयम रंगे रंगिणि चंगिणि, सज्ज मतंगिणि चाल रे ।
शील सुरंगिणि, उज्ज्वल अंगिणि, लंघिणि जंग जंबाल रे ।"[18]

साधु चर्या का एक अनिवार्य अंग है विहार । विहार के समय का एक परिदृश्य । आचार्य अपने शिष्य सम्पदा के साथ—वस्तुतः विहार की झांकी आंखों के सामने ला देता है ।

"खांधै धर-धर नां गला, नान्हा मोटा संत,
मुनि-पति मुख आगल खड्या हियड़े अति हुलसंत ।"[19]

अनुशासन और अनुशास्ता—स्वस्थ व्यस्थता के प्राण है । एक अनुशास्ता को आकार देते हैं ये शब्द—

"लाखां दीया झगमगें, ले बाती इकलोत,
सारां री सारै गरज, एक तपन उद्योत ।"[20]

प्रकाश का वह यात्री सतत प्रकाश वितरण में संलग्न था । पर शरीर भी अपना धर्म निभा रहा था । बाएं हाथ की अंगुली में एक व्रण उठा और वेदना ने जैसे उसी में आकार ले लिया । व्रण की स्थिति झलकती है—इस शब्द चित्र के माध्यम से—

"चबको अति अबखो चलै रे, सबको दिल बेचैन,
उच्छृंखल, खल आग्रही रे, सुणै न मानै एन,
नयण न निश भर नींदड़ी रे, दिन में रुचै न आ'र,
चलणो, सोणो बैठणो रे सारा बणग्या भार ।"[21]

चिकित्सक से चिकित्सा लेने का विशेष प्रयोग उस समय तक संघ के व्यवहार में न आया था । मगन मुनि तैयार हो गए ओप्रेशन करने के लिए । उसी द्रावक स्थिति का एक परिदृश्य—

"पीप-पिचरकी चली छलकती, रालो कालो काथ,
सहनशीलता देख सुगुरु की, स्तब्ध रह्यो सहु साथ,
पींच-पींचकर खींच-खींचकर, व्रण निर्घृण-निष्णात,
पीप निकाल्यो घाव उजाल्यो, मगन रु कुन्दन भ्रात ।"[22]

घाव की सफाई करते समय पीप (पीव) भी निकालना पड़ता । वेदना की विकरालता प्रकटित होती हैं । आत्मा व शरीर का अपना-अपना धर्म है, पर स्वभाव सभ्यता का दिग्दर्शन यह उदाहरण भी अनूठा है ।

"चूंथ चूंथ चूंथी स्यूं चिथड़ा, काढै सन्त सुजात,
ज्यूं सद्गुरु समकित रै स्हारै काटै गूढ़ मिथ्यात् ।"[23]

पर शरीर की वेदना में भी आत्म की ओजस्विता, तेजस्विता और अधिक प्रखर हो उठी । क्षीण होता शरीर बल आत्म बल को और अधिक बलवान् बना रहा था । वेदना के पैर धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे और काया का रूप—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राहु ग्रसित चांद सी छाया
आ काया कोई माया ।[२४]

पर दीप्त होता आत्मबल—

ब्रह्मचर्य रो ओज, मनोजां की सी मूरत मनहारी,
श्वेत केश सिर, श्वेत वेष, साकार सुकृत सुषमा सारी ।
कालु ललित ललाट घाट, महिमा विराट है मुखड़ारी,
चलचलाट कर चेहरो चलकै, पलकै प्रबल प्रभाधारी ।।[२५]

शारीरिक वेदना की रफ्तार समय के साथ तीव्र होती जा रही थी । उस वेदना से गर्भित एक हलका सा सजीव चित्र—

"कब ही आंख्यां खोलै बोलै होलै सी आवाज,
कब ही पोढै कबहि बिराजै वेदन वे अन्दाज ।"[२६]

आखिर वेदना की भी एक सीमा होती है— एक क्षण आया और वेदना समाधिस्थ हो गई । शरीर केवल शरीर बन गया ।

सामान्यतया देखा गया है । कवि काव्य का सर्जन करता है, और काव्यगत पात्रों के माध्यम से अपने अन्तरतम को काव्य में ढाल देता है । पर ऐसा तो कहीं विरल ही होता होगा कि कवि स्वयं अपने को अपने काव्य में उतार दें । इस कालुयशोविलास के कवयिता हैं—आचार्य तुलसी । काव्य का प्रमुख पात्र हैं पूज्य कालुगणि ।

अब कवि के सामने समस्या यह थी कि अष्टमाचार्य कालुगणि ने जिन्हें अपना सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का भार सौंपा । उनको काव्य में उतारे बिना कालुगणि का भी चित्र पूरा कैसे हो सकता था ? इसीलिए इस काव्य में दूसरा महत्त्वपूर्ण मानवीय बिम्ब उभरता है—स्वयं आचार्य तुलसी का ।

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी कई बार फरमाते हैं साधु तो सरल ही होता है— अर्थात् सरलता, निश्छलता, भोला-भालापन उसकी सम्पदा है ।

इस काव्य में भी बालक तुलसी का प्रत्यक्ष रूप में पहला-पहला चेहरा पूरी तरह से भोलापन लिए अवतरित होता है । प्रथम गुरु दर्शन के साथ ही यह निश्छल भोला चेहरा बड़ी मायूषी के साथ अपनी मां से पूछ रहा है ।

"मां ओ तन सुकुमार, चरण, कमल कोमल अतुल,
पय अलबाण विहार, परम पूज्य क्यूं कर करै ?"
मैं पूछ्यो ए मां ! आं पूजी महाराज रै,
चैहरे री आभा पलपलाट पल-पल करै ।
मां ! ए मां ! म्हाराज लागै घणां सुहावणां,
देखूं बलि-बलि भाज-तो पिण मन तिरपत नहीं ।[२७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'देखूं बलि-बलि भाज' में साकार एक बालक का चेहरा घूम जाता है जो अपनी प्रबल इच्छा को रोकने में असमर्थ है, और बार-बार अपने प्रिय गुरु के दर्शन को दौड़ रहा है।

बालक के मन में जहां हर नई चीज को देख, हर नए व्यक्ति को देख एक जिज्ञासा का भाव उभर आता है और येन-केन प्रकारेण वह अपनी जिज्ञासा को समाधान देना चाहता है तो दूसरी ओर उसकी जिज्ञासाओं में ही उसका भावी भी छुपा रहता है। बालक तुलसी अपनी मां से पूछ रहा है और भावी का एक चित्र भी झलक रहा है—

'कुण होसी पाछै आं पूजी म्हाराज रै,
उत्सुकता आ छै मनै बतादे मावड़ी।'[२८]

और इस उत्सुकता के साथ ही संकल्प की धुन भी भीतर जाग जाती है। सर्व विदित है बालक के लिए तो अपना सर्वस्व मां ही होती है। इसीलिए फिर वे अपनी मां से ही कह रहे हैं—

'भणूं चरण में बैठ, छोटो सो चेलो बणूं,
करूं स्व जीवन भेंट, मां ! मन अन्तर भावना।''

होनहार लाडला बालक जब वीरता के साथ महापथ का पथिक बनने को उद्यत हो जाता है—तो उसके ओछव-मोछव में भी एक विशेष वात्सल्य की भावना उमड़-उमड़ आती है। बालक तुलसी दीक्षा को तैयार हो गए। और पूर्व सन्ध्या चतुर्थी के दिन का यह वैरागी तुलसी का सलोना मुखड़ा सुकुमार बाल सामने आ जाता है।

'मेंहदी मांडी, कर-चरणां में, माता कोड पुरायो जी।
पो बिद चौथ रात नै मुझने कंबल ओढ़ सुलायो जी।''[२९]

बालक तुलसी यद्यपि अवस्था में बालक है पर विकसित समझ के इस धनी को अनुभव वृद्ध बालक कहना ही अधिक रुचता है क्योंकि कल्पाकल्प का ऐसा विवेक कम से कम एक बालक तो कभी नहीं दे सकता। वही चतुर्थी की आधी रात्रि और मध्य नींद से उठाने पर भी पूरी जागरूकता से भाईजी के सामने प्रस्फुटित होता यह अनुभवी वृद्ध का स्वर—

भाईजी री अजब बात सुन हांसी रुकी न म्हारी जी।
नोट 'परिग्रह' ही है बन्धव ! नहिं कल्पे निरधारी रे॥[३०]

त्रयोदशी की रात्रि गुरुदेव भयंकर वेदन-ग्रस्त अवस्था में तुलसी को याद फरमाते हैं। भाईजी महाराज बुलाने आते हैं। तुलसी निहाल हो जाते हैं। कालूगणि के पास पहुंचकर मुनि तुलसी बार-बार वंदना करते हुए मानो परम तृप्ति को पा लेना चाहते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'शीघ्र सहोदर साथ में
मैं सद्गुरु रा चरण-सरोज जुहारूं रे
नयना नन्दन वन्दना
छोगा नन्दन नै कर रूं-रूं ठारूं रे ।[31]

और उस अवस्था में पूज्य कालूगणि के मुख से मुखरित होता यह बिम्ब भी उस प्रतिभाशाली बालक को प्रौढ़ता प्रदान कर देता है ।

वय बालक प्रतिभा-बले
प्रगट प्रोढ़ कहिलावै-विभव बड़ावै रे
प्रवया शिशु सवया बणै,
जो विवेक-बल वृद्धभाव नहिं पावै रे ।[32]

योग्य व अनुकूल शिष्य को योग्यतम बनाने का भी गुरु का अपना ढंग होता है और इसीलिए-शारीरिक अस्वस्थता की अवस्था में भी तुलसी को प्रत्यक्ष सेवा का विशेष अवसर न मिला । अब जब रात्रि में गुरु कालू ने तुलसी को अपने पास बुलाया है व अत्यन्त अनुग्रह पूर्वक प्रिय शिष्य को पाथेय प्रदान कर रहे हैं तो शिष्य भी अपने मन को वहां खोल कर रख दे—सहज है । प्रत्यक्ष सेवा कार्य से वंचित रहने के कारण मुनि तुलसी के मन में शिकायत भी है । गुरु से शिकायत करता बाल मुनि का यह स्वरूप निसर्गतः ही सौम्य प्रतीत हो रहा है ।

पांच मिनिट ही पास में रे बैठ्यो, दियो उठाण ।
बखत गमा मत कीमती रे, सीख, चितार सुजाण ।।
अब प्रसाद मुझ पर करो रे, चाकर पद-रज जाण ।
द्यो चरणा री चाकरी रे, अवसर रो अहसाण ।।[33]

गुरु के साथ जुड़े अद्वय के तारों से ही वस्तुतः शिकायती स्वर में आत्मीय निवेदन मुखर हुआ है ।

गुरु की पूरी महर-नजर से मुनि तुलसी संरक्षित हैं । भाद्रव शुक्ला तृतीया का दिन आता है और कालूगणि अपनी नई चौकड़ी मुल-मुल की चद्दर उतार के मुनि तुलसी को ओढ़ा देते हैं । युवराज पद प्रकाशित होते ही सारा माहौल खुशियों से झूम उठता है । पर उस समय युवराज तुलसी की क्या मनः स्थिति हैं उसी को प्रकट करता है यह बिम्बन ।

'जल बिन्दू इन्दूज्ज्वल मानो शुक्तिज आज सुहायो ।
मृन्मय पिण्ड अखण्ड पलक में कामकुम्भ कहिवायो ।।
साधारण पाषाण शिल्पि कर, दिव्य देव पद पायो ।
कि वा कुसुम, सुषमता योगे, महिपति-मुकुट मंढायो रे ।।'[34]

और अचानक इतना भारी परिवर्तन हो जाने से अब हर कार्य में असमञ्जस की स्थिति उत्पन्न होना भी सहज ही है—स्वयं की असमञ्जसता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकट करता यह शिल्प ।

"मैं स्वयं बण्यो अज्ञात-भार स्यूं भारी ।
प्रत्येक कार्य में प्रगटी स्थिति दुविधा री ।।
बैठूं तो कठै, कियां किण रीते बैठूं ?
बोलूं-चालूं बाहिर या भीतर पेठूं ?"
'यदि अनुचित रीते एक ही कदम बढ़ाऊं ।
अनभिज्ञ कहाऊं, हास्यास्पद बण ज्याऊं ।।'[३५]

पद-पद पर सजग युवाचार्य तुलसी और समय के बढ़ते चरण, पर भवितव्यता को कब कौन रोक पाया है ? अब कवि के सामने वर्णन के लिए विषय उपस्थित हो गया है, जिसकी कल्पना या स्मृति मात्र से ही मन विषण्ण हो जाय । पर जो कुछ वर्ण्य विषय है मन: स्थिति भी वैसी ही हो जाती है, भले ही दृढ़ हृदय से । पर जब वर्णन प्रारम्भ किया है तो अंतिम समय को भी वर्णित तो करना ही होगा । और कवि के विवश कर्तव्य से व्यक्त होता है हृदय का यह छायांकन ।

"देखो भादूड़ा री छठ अणतेड़ी आवै रे
जिणरो वरणन करतां अक्षर घड़तां जी घबरावै रे
जी घबरावै मन घबरावै बिरह बढ़ावै रे ।"[३६]

और जब नश्वर देह धर्म सिमट चुका तो स्मृतियों के बादल भर आए । पल-पल छिन-छिन उभरती स्मृतियों का बिम्ब ।

पढणै रे समय रे लोय, बढ़णै रे समय रे लोय ।
मैं नहिं जाणी रे मुझ बूथै स्यू कइ गुणो ?
भार भूलावस्यो रे लोय, यूं पधरावस्यो रे लोय
म्हारा मन री रे बातड़ली स्वामी ! सुणो ।[३७]

और इस प्रकार युवराज तुलसी की छवि यहां विराम ले लेती है। और आचार्य तुलसी का छायांकन दिखाने का विषय इस काव्य में नहीं। उसके लिए तो खुली आंखों प्रत्यक्ष दर्शन ही उपलब्ध काव्य है ।

मानवेतर बिम्ब

मानवीय बिम्बों के अतिरिक्त अनेक मानवेतर बिम्ब भी यहां स्पष्ट रूप से प्रकट हुए हैं । मानवेतर बिम्बों में प्रधान रूप से प्रकट होता है— ऋतुओं का दृश्य । छहों ऋतुओं का साकार वर्णन विवेच्य काव्य में उपन्यस्त है ।

ऋतु वर्णन

सर्दी का वर्णन राजस्थानी धोरों में शरद् ऋतु से घटित होने वाला ठिठुरन भरा दृश्य गहनता व प्रवीणता के साथ परिलक्षित होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धोरा-धोरा में छोला सा चान्दी रा जाणै बरग बिछै ।
जम ज्याय जलाशल भी सतीकिती सुन्दर तस्वीर खिचै ।।[३८]

साधु चर्या का मुख्य अंग ही है विहार और वह भी नंगे पैर। नंगे पैर कड़कती सर्दी और इसमें से बनती शरीर की बाह्य व भीतरी स्थिति का एक रेखाचित्र रूपायित हो रहा है ।

हाथां पैरां में ब्याउड़ी, काटै ज्यूं पर्वत-खोगालां ।
कालूंढो चेहरो पड़ ज्यावै, जल ज्यावै चमड़ी सीयालां ।।
बेलू-टीलां री बा धरती, पग धरत पराया सा पड़सी ।
झरती आंख्यां झरती नाकां, कर-शाखा करड़ी ककड़ सी ।।[३९]

मनुष्य ही नहीं—सूर्य पर भी सर्दी का असर आ जाता है इसीलिए—

"सूरज भी तेज तपे कोनी, जाड़ै स्यूं डरतो वेग छुपै ।"[४०]

ग्रीष्म ऋतु की तप्तता का दृश्य ।

भूं ज्यूं भट्टी तरणी तावै ।
स्वेद निझरणां रूं-रूं झारै ।।[४१]

ग्रीष्म के बाद पावस की प्रतीक्षा हर वर्ग की प्रतीक्षा है । पावस के प्रारम्भ में ही अनुकूल दृश्य बन जाता है ।

अब पावस प्रारम्भ में आयो श्रावण मास ।
जलधर जल-भर वृष्टि स्यूं पायो घाम प्रवास ।।[४२]

प्राकृतिक सुख के साथ बसंत का सौन्दर्य वर्णन भी यहां लब्ध है ।

"नीम नीमझर स्यूं नमै, आम्र मोर महकंत ।
कोयल कुहुकुहु मिष पथिक-स्वागत करे बसंत ।।[४३]

"राजस्थान की लूंओ की कोई सानी नहीं
लू लागी नागी घणी, सागी आगी रूप ?
जलती झालां ज्यूं बै लूबां
उमस होश गमावै जी
रूं रूं भेद, न स्वेद नीकलै
भूख न नींदं सुहावै जी ।[४४]

विवेषतः राजस्थान में सर्दी-गर्मी व वर्षा की विशेष पहचान है तीनों का साथ वर्णन सजीव बन पड़ा है ।

सरदी मौसम लक्कड़दाहो, घाम तपै ज्यूं भट्टी ।[४५]

धरती—टीलों की धरती । राजस्थान कवि की अपनीधरती रही है इसीलिए मरुस्थल के प्रति कवि का विशेष आकर्षण होना भी स्वाभाविक है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मरुस्थल

जिसे कवि मरुस्थल की अपेक्षा स्वर्णस्थल कहना अधिक पसंद करते हैं। उसी भूमि का यथार्थ चित्रांकन—

रयणी रेणुकणां शशि किरणां
चलकै जाणक चांदी रे
मनहरणी धरणी यदि न हुवै
अति आतप अरु आंधी रे।[४६]

ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए मेवाड़ का क्षेत्र भी सामने आया। उसी मेवाड़ की धरती का चित्र—

"ऊंचा-ऊंचा शिखरां स्यूं शिखरी सुहाणां
शिखरयां स्यूं हरित अपार।
झर-झर झरता निर्झरणा, उज्ज्वल वरणां।
किरणां दूधां री धार॥
बागां-बागां बड़भागां, कोयलियां कूजै।
गूंजै गह्वर-बिच शेर॥
लम्बी खोगालां नाला बाहला नै खाला।
नदियां रो नहीं निवेर॥"[४७]

मध्यप्रदेश में बहती नदियों ने यहां आकार लिया है।

"पर चंबल-जल-झलमलै, मिलै व कूल किनार।
टेढ़ बांक पिण झांकतां, लम्बाई अणपार॥"[४८]

संवेदनात्मक बिम्ब

आन्तरिक भावों का चित्रण भी हमें यहां देखने को मिलता है- चिन्ता-भय-हर्ष आदि ऐसे ही भाव है।

चिन्ता—चिंता से घटित होने वाली पूरी स्थिति यहां स्पष्ट हुई है कालूगणि का स्वास्थ्य मंद होता जा रहा है और युवाचार्य तुलसी की चिन्ता यहां आकार ले रही है।

"चूंट-चूंट कर चींट्या ज्यूं चिन्ता निशि वासर चोट करै।
दिन की भूख-रात की निद्रा मूक, होंठ जुग मौन धरै॥"[४९]

भय—बालक कालू जब तीन दिन के हुए थे। अचानक रात्रि में बालक कालू को ले जाने के लिए एक भयंकर दानव प्रकट होता है—दानव का भयंकर रूप भय को जन्म दे देता है।

"दानव एक डरावणो परम भयंकर भास।
कालो कज्जल सोदरु, घटा घनाघन घोर॥"[५०]

हर्ष—आचार्य पद प्राप्त कर अपनी जन्मभूमि छापर में पधारते हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो हर्षोत्फुल्ल मां का हृदय झूम उठता है—

"छोगां माई अति हुलसाई, बांटै धाई हर्ष बधाई।
आज न माई तन फूलाई, वय बूढ़ाई सब भूलाई ।।"[५१]

प्रकृति का मानवीकरण भी यहां किया गया है। मर्यादा-महोत्सव पर लगभग सभी बहिर्विहारी साधु-साध्वियों का आगमन केन्द्र में होता है—मिलन के इस दौर में प्रसन्नता का रंग इस ढंग से निखरता है, कि मिलन महोत्सव साकार हो जाता है—

"गंगा जमना और सुरसती उछल-उछल कर गलै मिलै।"[५२]

प्रसन्नता के वेग में ऐसी मनःस्थिति अनुभव गम्य ही है।

चलचित्र-परिदृश्य में बंधा यह काव्य—आंख, मन और चेतना की समस्त शक्तियों को बांधे रखने में असाधारण है। यही कारण है कि इस काव्य-धारा में गहराई से अवगाहन की इच्छा स्वतः बलवती होती चली जाती है।

मेरी स्थूल बुद्धि इसकी सूक्ष्म नब्ज को पकड़ सके संभव नहीं। फिर भी विविध क्षेत्रों व विषयों को अपने में समेटे यह जीवन वृत्त अपने आपमें राजस्थानी साहित्य को अनुपम देन है। यदि इसे आधुनिक युग का महाकाव्य कहा जाय तो शायद अत्युक्ति न होगी।

सन्दर्भ सूची

१. सुश्री केशेलियन स्पर्जियन
२. चैम्बर्स ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी डिक्शनरी
३. Ency Brittanica (Vol. 12. (page 103)
४. जार्ज हवेली पोयटिक प्रोसेस० पृ० १४५
५. काव्य में उदात्त तत्व पृ० ६९
६. कालुयशोविलास पृ० २४
७. कालुयशोविलास पृ० २४
८. कालुयशोविलास पृ० १२
९. कालुयशोविलास पृ० १४
१०. कालुयशोविलास पृ० १४
११. कालुयशोविलास पृ० १५
१२. कालुयशोविलास पृ० १८
१३. कालुयशोविलास पृ० १८
१४. कालुयशोविलास पृ० ४४
१५. कालुयशोविलास पृ० १२३
१६. कालुयशोविलास पृ० १४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. कालुयशोविलास पृ० १६८/१७१
१८. कालुयशोविलास पृ० २२३
१९. कालुयशोविलास पृ० २५४
२०. कालुयशोविलास पृ० २८४
२१. कालुयशोविलास पृ० ३१२
२२. कालुयशोविलास पृ० ३१७
२३. कालुयशोविलास पृ० ३१७
२४. कालुयशोविलास पृ० ३२८
२५. कालुयशोविलास पृ० ३२५
२६. कालुयशोविलास पृ० ३५८
२७. कालुयशोविलास पृ० १४५
२८. कालुयशोविलास पृ० १४५
२९. कालुयशोविलास पृ० १४५
३०. कालुयशोविलास पृ० ३४७
३१. कालुयशोविलास पृ० ३४२
३२. कालुयशोविलास पृ० ३४३
३३. कालुयशोविलास पृ० ३४३
३४. कालुयशोविलास पृ० ३५३/३५४
३५. कालुयशोविलास पृ० ३५५/५६
३६. कालुयशोविलास पृ० ३६३
३७. कालुयशोविलास पृ० ३६९
३८. कालुयशोविलास पृ० १४३
३९. कालुयशोविलास पृ० १४३
४०. कालुयशोविलास पृ० १४३
४१. कालुयशोविलास पृ० १९५
४२. कालुयशोविलास पृ० ३२६
४३. कालुयशोविलास पृ० ३०३
४४. कालुयशोविलास पृ० १९६
४५. कालुयशोविलास पृ० १९६
४६. कालुयशोविलास पृ० ४
४७. कालुयशोविलास पृ० २४५
४८. कालुयशोविलास पृ० २९९
४९. कालुयशोविलास पृ० ३३५
५०. कालुयशोविलास पृ० ७
५१. कालुयशोविलास पृ० १९३ □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्री महाप्रज्ञ का साधना दर्शन

☐ समणी स्थितप्रज्ञा

भारतीय संस्कृति अध्यात्म से अनुप्राणित रही है। अध्यात्म विकास का सोपान है साधना। साधना के क्रमिक विकास से ही व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार की भूमिका तक पहुंच सकता है। साधना के बारे में विश्लेषण करने से पूर्व हमें साधना शब्द के हार्द को समझना होगा।

साधना का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

वाचस्पत्यम् कोश में कहा गया है—साधन-सिध-णिच्-साधादेशे यथायथं करणे भावे ल्युट् कर्त्तरि ल्यु वा। साधनाऽपि उपासनायां निष्पादनायाञ्च ॥[1]

इसी को सिद्ध करते हुए शब्दकल्पद्रुम में कहा गया है—

साधना, 'साध+णिच्+युच्+टाप्' सिद्धिः। निष्पादना। इति साध धात्वर्थदर्शनात्। आराधना। भान्तसाधधातोरनप्रत्ययनिष्पन्ना।[2] अर्थात् साध धातु णिच् युच् और टाप् करने पर निष्पादना, आराधना, उपासना, संराधन प्रसादन आदि अर्थों में साधना शब्द की सिद्धि होती है। राध-साध-संसिद्धौ धातु से भाव और करण में ल्युट् प्रत्यय एवं स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय करने पर भी साधना शब्द निष्पन्न होता है।

साधना का स्वरूप

संकल्प जीव है। निःसंकल्प शिव है। संकल्परहित भाव साधना है।[3] साधना मात्र ही शक्ति की आराधना है।[4] समस्त सिद्धियां शक्ति सापेक्ष हैं।[5] शक्ति साधना का मूलसूत्र है नादानुसन्धान अथवा शब्द का क्रमिक उच्चारण। बिन्दु या कुण्डलिनी विक्षुब्ध होकर नाद का विकास करती है।[6] नाद चैतन्य का अभिव्यंजक है, अतः उस अवस्था में चित् शक्ति क्रमशः अधिकतर स्पष्ट हो जाती है। जिस स्थान में नाद का लय होता है, ब्रह्मरन्ध्र वही स्थान है। इसके बाद साक्षात् चित्-शक्ति का आविर्भाव होता है।[7] साधनों की पवित्र व्याकुलता बताते हुए कहा है—

माझें नामरूप लोपो असतेपण हारपो।"[8]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईशावास्यवृत्तिकार के शब्दों में—

संभूतिं च विनाशं च यस् तद् वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ।।

जब आत्मज्ञान की उत्कण्ठा होती है तब मनुष्य निरोध के बल से विषय-वशीकाररूप वैराग्य प्राप्त करता है । इतना होने के बाद यह कहा जा सकता है कि साधक मृत्यु को तर गया । आगे विकास के बल से ओत-प्रोत विश्व प्रेम कर अक्षय अमृत की निधि को प्राप्त कर लेता है ।[९] इस प्रकार ध्येय के प्रति साधक की गहरी निष्ठा होनी चाहिए ।

साधक कौन ?

आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने अपनी पुस्तक "संबोधि" में स्पष्ट उल्लेख करते हुए कहा है—

"गृहेऽप्याराधना नास्ति, गृहत्यागेऽपि नास्ति सा ।
आशा येन परित्यक्ता, साधना तस्य जायते ।।[१०]

मन आसक्ति का उत्स है । वह ज्यों-ज्यों बहिर्मुख होता है, त्यों-त्यों आसक्ति बढ़ती जाती है । अन्तर्मुख मन आसक्ति का पार पा लेता है । जब मन आत्मा से सम्पर्क साध लेता है, तब बाह्य विषयों के प्रति आसक्ति मिट जाती है ।[११]

कामनाओं का उत्स है मोह । मोह की सघनता से कामनाएं बढ़ती हैं । ज्यों-ज्यों मोह क्षीण होता है, कामनाएं क्षीण होती जाती हैं । वीतराग में मोह का पूर्ण विलय हो जाता है । अतः वे कामनाओं से मुक्त होते हैं ।[१२] प्रश्न उठता है, मोह का उन्मूलन कैसे हो ? समाधान की भाषा में मोह-विलय के अनेक साधन बताए गए । उनमें पहला साधन है—आहार-विजय ।[१३] खाद्य संयम के तीन पहलू हैं—

१. खाने के पदार्थों की संख्या में कमी करना ।
२. अति-आहार का वर्जन करना ।
३. कामोद्दीपक पदार्थों के सेवन का वर्जन करना ।[१४]

इन्द्रिय-संयम और आहार-संयम का घनिष्ठ संबंध है । आहार-संयम से इन्द्रिय-संयम फलित होता है ।[१५] योगी को सदा सूक्ष्म आहार करना चाहिए । सूक्ष्म-आहार से इन्द्रियां शांत रहती हैं । इन्द्रियों की प्रशांत अवस्था में मन की एकाग्रता सधती है ।[१६] इन्द्रियां केवल विषयों को ग्रहण करती हैं । विषयों के प्रति मनोज्ञता या अमनोज्ञता पदार्थों में नहीं, मन की आसक्ति में निहित है । जिस व्यक्ति में आसक्ति कम है वह पदार्थों का भोग करता हुआ भी कर्मों से नहीं बंधता ।[१७] इसी बात को पुष्ट करते हुए संबोधिकार कह रहे हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विविक्तशय्याऽसनयन्त्रितानां-
मल्पाशनानां दमितेन्द्रियाणाम् ।
रागो न वा धर्षयते हि चित्तं,
पराजितो व्याधिरिवौषधेन ।।[१८]

जो एकांत बस्ती में रहने के कारण नियंत्रित हैं, जो कम खाते हैं और जो जितेन्द्रिय हैं उनके मन को रागरूपी शत्रु वैसे पराजित नहीं कर सकता जैसे औषध से शांत हुआ रोग देह को पीड़ित नहीं कर पाता ।[१९] साधक एकांत वातावरण में मन को साधे और इन्द्रियों को बांधे । मन और इन्द्रियों को साध लेने पर स्वप्न में भी उसका मन चलित नहीं हो पाता । एकांतवास का यह भी अर्थ है कि साधक समूह में रहता हुआ भी अकेला रहे, एकांत में रहे । इसका तात्पर्य यह है कि वह बाह्य वातावरण से प्रभावित न हो और 'एकोऽहम्' इस मंत्र को आत्मसात् करता हुआ चले । स्थान की एकांतता से भी मन की एकांतता का अधिक महत्त्व है ।

मनोज्ञेष्वमनोज्ञेषु, स्रोतसां विषयेषु यः ।
न रज्यति न च द्वेष्टि, समाधिं सोऽधिगच्छति ।।

मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में जो राग और द्वेष नहीं करता वह समाधि को प्राप्त होता है ।[२०] शाश्वतः सत्य में रति होने पर संसार विनश्वर प्रतीत होने लगता है । फिर साधक किससे प्रेम करे और किससे अप्रेम । वह मध्यस्थ हो जाता है । यह मध्यस्थता ही वीतरागता है ।[२१] वास्तव में अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी ज्ञाताद्रष्टा भाव की साधना करने वाला साधक ही आगे बढ़ सकता है ।

ध्यान का अधिकारी

मुक्ति के लिए अन्तर्बोध अपेक्षित है । जिस दिन मनुष्य के अन्तःकरण में यह बोध हो जाता है । उस दिन उसके कदम शाश्वत की दिशा में स्वतः उठने लग जाते हैं ।[२२] कहा भी है—

ओजश्चित्तं समादाय, ध्यानं यस्य प्रजायते ।
धर्मे स्थितः स्थिरचित्तो, निर्वाणमधिगच्छति ।।[२३]

जिस व्यक्ति की चेतना का प्रवाह बाह्याभिमुख है, वह ध्यान नहीं कर सकता । जो अपनी चेतना को आत्माभिमुख करता है, वही ध्यान का अधिकारी होता है । मनः शुद्धि और मनः एकाग्रता से आत्मा निर्वाण को प्राप्त करती है ।[२४] सरलता वह प्रकाशपुंज है, जिसे हम चारों ओर से देख सकते हैं । सरलता चित्तशुद्धि का अनन्य उपाय है । जब तक मन पर अज्ञान, संदेह, माया और स्वार्थ का आवरण रहता है तब तक वह सरल नहीं होता । इन दोषों को दूर करने पर ही व्यक्ति का मन 'खुली पोथी'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसा हो सकता है, चाहे कोई भी व्यक्ति किसी भी समय में उसके मन को पढ़ सकता है। जब तक मन में छिपाव, घुमाव और अंधकार रहते हैं तब तक मन की सरलता प्राप्त नहीं होती। असरल मन सदा मलिन रहता है। मलिन मन से विचार और आचार भी मलिन हो जाते हैं। अतः चित्त की निर्मलता से आत्मस्वरूप का सहज परिज्ञान हो सकता है।[२५]

ध्यान के साधन

विषयों का त्याग वैराग्य से ही होता है। जो विषयों का त्याग कर देता है उसके उनका अग्रहण होता है और अग्रहण से इन्द्रियां शांत बनती हैं। उल्लेख भी मिलता है—

विषयाणां परित्यागो, वैराग्येणाशु जायते।
अग्रहश्च भवेत्तस्मादिन्द्रियाणां शमस्ततः ॥[२६]
मनः स्थैर्यं ततस्तस्माद्, विकाराणां परिक्षयः।
क्षीणेषु च विकारेषु, त्यक्ता भवति वासना ॥

इन्द्रियों की शांति से मन स्थिर बनता है और मन की स्थिरता से विकार क्षीण होते हैं। विकारों के क्षीण होने पर वासना नष्ट हो जाती है।[२७] जिससे व्यक्ति आगे विकास कर सकता है। स्वाध्याय और ध्यान ये दो ऐसे साधन हैं जिनसे आत्मा की विशुद्धि होती है कहा भी है—

स्वाध्यायश्च तथा ध्यानं, विशुद्धेः स्थैर्यकारणम्।
आभ्यां सम्प्रतिपन्नाभ्यां, परमात्मा प्रकाशते ॥[२८]

इन्द्रियां अपने विषयों से निवृत्त होती है तब चित्त अपने विषय से निवृत्त होता है। जहां इन्द्रिय और मन को अपने-अपने विषयों से निवृत्ति होती है, वहां ध्यान लीन व्यक्ति को पवित्र आत्म-दर्शन की प्राप्ति होती है।[२९] आचार्य श्री महाप्रज्ञ अपनी अनुभूति प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं—

सच्चं खु सक्खं भवई तया जया,
सद्दस्स जालाविगओ भवामिहं।
सद्दस्स कारागिहतंतिओ जणो,
सव्वत्थ मोहं तिमिरं च पासई ॥[३०]

जब मैं शब्द-जाल से छूटता हूं तब सत्य का साक्षात्कार होता है। जो व्यक्ति शब्द के कारागृह का बन्दी है, वह सर्वत्र मोह और अन्धकार ही देखता रहता है। क्योंकि सत्य को साधारण व्यक्ति नहीं पहचान सकता। जैसे—

विनिद्राणे नेत्रे स्फुरति विमलज्योतिरभितः,
सुषुप्तेऽपि स्वान्ते लषति विपुला शक्तिरनिशम्।
विमूकेप्यारावे तरति गहनो भावजलधिः,
जनः सामान्योऽयं कथमिव विजानीत सहसा ॥[३१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नींद से मूंदी हुई आंखों में भी चारों ओर विमल ज्योति प्रस्फुटित हो रही है। सुषुप्त चित्त में भी सदा विपुल शक्ति प्रभासित होती है। मूक शब्दों में भी भावों का गहन समुद्र तैर रहा है। इन तथ्यों को सामान्य सहसा कैसे जान सकता है?

तस्संधयार दिवसे वि अत्थि,
निरिक्खिओ जेण महं न अप्पा।
राओ वि तस्सत्थि महं पगासो,
निरिक्खिओ जेण मह णिअप्पा ॥[32]

अर्थात् जिसने महान् आत्मा का निरीक्षण नहीं किया है, उसके लिए दिन में भी अन्धकार है और जिसने अपनी महान् आत्मा का निरीक्षण किया है उसके लिए रात में भी महान् प्रकाश है। जिसके पास अपना प्रभु विद्यमान है, वह व्यक्ति कभी भी दूसरे के आश्रित नहीं होता। जिसने अपने प्रभु को नहीं पाया, वह दूसरे को देखकर रुष्ट या तुष्ट होता रहता है।[33] आवश्यकता है व्यक्ति में प्रभु के प्रति अटूट आस्था हो, समर्पण हो। गीता में भगवत् समर्पण पर बहुत बल दिया गया है। वहां कहा गया है कि प्रत्येक प्रवृत्ति भगवान् को समर्पित कर दो। 'सम्बोधि' में आत्म-समर्पण को मुख्यता दी हैं। जो साधक आत्मा को केन्द्र मानकर प्रवृत्त होता है, वह लक्ष्य तक पहुंच जाता है।

जब अर्हत् का दिव्य स्वरूप व्यक्ति के भीतर प्रवेश करता है तो सारी स्थिति ही बदल जाती है। कुमुदचन्द्राचार्य ने अपने 'कल्याण-मन्दिर' नामक स्तोत्र में कहा है—जैसे वन-मयूर के चन्दन-वृक्ष के पास आकर बैठ जाने से ही वृक्ष पर व्याप्त सर्पों का समूह शिथिल हो जाता है। उसी प्रकार भगवान् के भीतर विराजमान होते ही जीव के कठोर कर्म-बन्ध क्षणभर में ढीले हो जाते हैं---

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति,
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्मबन्धाः।
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखंडिनि चन्दनस्य ॥[34]

महायोगी का स्वरूप

जिसकी इन्द्रियों का बाह्य पदार्थों में व्यापार नहीं होता वह योगी सहज, निरपेक्ष, निर्विकार और अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त होता है।[35] संबोधिकार के अनुसार---

आत्मलीनो महायोगी, वर्षमात्रेण संयमी।
अतिक्रामति सर्वेषां, तेजोलेश्यां सुपर्वणाम् ॥[36]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने स्पष्ट कहा है कि इन्द्रिय और चित्त का निग्रह, आत्मा से आत्मा का स्पर्श हमें परमात्मा बना देता है—

इन्द्रियाणि च संयम्य, कृत्वा चित्तस्य निग्रहम् ।
संस्पृशन्नात्मनात्मानं, परमात्मा भविष्यति ।।[१७]

संबोधिकार 'अप्पाणं शरणं गच्छामि'— अर्थात् आत्मा की शरण स्वीकार करने की बात कहते हैं । यह आत्मविश्वास को वृद्धिगत करने का महत्त्वपूर्ण सूत्र है । अत्मा की शरण समाधिस्थ और द्रष्टा व्यक्ति ही प्राप्त कर सकता है ।[३८] इस प्रकार "संबोधि" में चहुं ओर आत्मा ही आत्मा का स्वर ध्वनित हो रहा है—

आत्मस्थित आत्महित आत्मयोगी ततो भव ।
आत्मपराक्रमो नित्यं, ध्यानलीनः स्थिराशयः ।।[३९]

□

संदर्भ :

१. वाचस्पत्यम् कोश, भा० ६, पृ० ५२७८
२. शब्दकल्पद्रुम कोश, भाग ५, पृ० ३२८
३. ईशावास्यवृत्ति, पृ० ५७
४. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ० ७२
५. वह, वही
६. वही, पृ० ८०
७. वही, पृ० ८१
८. ईशावास्यवृत्ति, पृ० ५६
९. वही, पृ० ४५
१०. सम्बोधि, अधिकार १४, श्लोक ३, पृ० ३०९
११. वही, पृ० ३१
१२. वही, वही
१३. वही, पृ० २७
१४. वही, अ० २, श्लो० १२, पृ० २७
१५. वही, २।१३, पृ० २७
१६. वही, पृ० २८
१७. वही, २।१९, पृ० ३१
१८. वही, २।१४, पृ० २८
१९. वही, पृ० २८
२०. वही, २।१६, पृ०
२१. वही, पृ० २९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२. वही, पृ० ३३
२३. वही, ३।२९, पृ० ६२
२४. वही, पृ० ६३
२५. वही, पृ० २५
२६. वही, ५।२८, पृ० १०७
२७. वही, ५।२९, पृ० १०८
२८. वही, ५।३०, पृ० १०८
२९. वही, ४।८, पृ० ८०
३०. अतुला-तुला, २४, पृ० ८-९
३१. वही, १६।१, पृ० १५-८
३२. वही, १५, पृ० ६
३३. वही, १६, पृ० ६-७
३४. अमृतकलश, भा० १, पृ० १०१
३५. सम्बोधि, ४।९, पृ० ८०
३६. वही, ४।१०, पृ० ८१
३७. वही, १६।१८, पृ० ३६५
३८. महाप्रज्ञ साहित्य एक सर्वेक्षण, पृ० २४
३९. सम्बोधि, १६।५, पृ० ३६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'स्थानांग' में संगीत कला के तत्त्व

☐ सुश्री निर्मला चोरड़िया

'कला' का प्रचलित व प्राचीन अर्थ है—किसी भी कार्य को पूर्ण कुशलता से करना। भरत के नाट्यशास्त्र में कला का प्रयोग 'ललित कला' के स्थान पर किया गया है। प्रत्यय एवं स्त्री विविक्षा में टाप होकर कला पद निष्पन्न होता है जिसका अर्थ—नृत्य गीतादिलालित्य कल धातु अच सम्पादिक विद्या।[1] ललित कलाओं में संगीत, काव्य, चित्रकला, वस्तुकला तथा शिल्पकला—इन ५ कलाओं का समावेश किया जाता है। आधुनिक काल में भी हम कला शब्द का अर्थ ललित कला से ही समझते हैं। माधुर्य, सौन्दर्य, सहजता, सरलता, प्रासाद, ओज, प्रवाह आदि बातें लालित्य के अन्तर्गत आती हैं। लयात्मकता लालित्य का एक विशेष गुण है।

बहुत से विद्वानों ने 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' के समन्वय को कला माना है। प्लेटो ने कला को बिल्कुल देव माना है। उसके अनुसार कला में मानव प्रकृति की समस्त वस्तुओं की अनुकृति करता है 'Art is shadow of shadow'। कला को समाज में चेतना उत्पन्न करने वाली शक्ति के रूप में ग्रहण किया गया है। कई मनीषियों ने सौन्दर्य को ही कला का मापदण्ड माना है। कला वही है जो हर एक व्यक्ति के हृदय को छुए।

भारतीय साहित्य और भारतीय कला के समान भारतीय संगीत भी शताब्दियों की अमूल्य देन है। सृष्टि की उत्पत्ति का उपादान कारण संगीत माना गया है। क्योंकि संगीत कला का मूल नाद है और नाद सृष्टि का आधार माना गया है। नाद के आहत रूप को ही संगीत कहा जाता है। मिल्टन ने 'पेराडाइज लास्ट' में लिखा है - 'जब ईश्वर ने सृष्टि रची तब उसने पहले बिखरे हुए महाभूतों को संगीत के द्वारा एकत्र किया तत्पश्चात् सृष्टि की रचना की।[1]

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में 'संगीत' का व्युत्पत्तिगत अर्थ 'सम्यक् गीतम्' है। संगीत में गीत, वाद्य, तथा नृत्यादि को अभिन्न साहचर्य संगीत रत्नाकार के अनुसार संगीत की परिभाषा—'गीत वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यये' अर्थात् संगीत एक अन्विति है, जिसमें गीत, वाद्य तथा नृत्य—तीनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का समावेश है। नाट्यशास्त्र के अनुसार गीत नाटक के प्रमुख अङ्गों में से अन्यतम है, तथा वादन एवं नर्तन-दोनों उसके अनुगामी हैं।[3] भारतीय परंपरा के अनुसार नटराज शिव नृत्यकला के आदि स्रोत हैं। तथा भगवती सरस्वती गीत तथा वाद्यकला की प्रवर्तिका हैं।

संगीत अपने आपमें एक स्वतंत्र और सौन्दर्य पूर्ण कला है। संगीत का शाश्वत मूल्य स्वरों का सौन्दर्य है तथा यही संगीत का लक्ष्य है। ध्वनि या नाद स्वर का सामान्य अर्थ है। संगीत के स्वर भौतिक जगत् से परे हैं क्योंकि संगीत के मूलाधार स्वर व लय प्रकृति में व्याप्त हैं। जहां चेतना है, वहां गति है, वहीं स्वर भी है परन्तु ये गुण गोपित होते हैं। इन्हें संगीत व्यक्त बनाता है, प्रकट करता है। स्वरों के सौन्दर्य को ज्यादा शक्तिशाली बनाना, भावप्रवण बनाना यह शक्ति संगीत में है। स्वर को संगीत में परिष्कृत रूप प्राप्त होता है।

भारतीय स्थापत्य कला तथा शिल्प के ऐतिहासिक अनुशीलन के लिए जैन साहित्य जितना उपादेय है, उतना ही भारतीय संगीत के लिए भी है। ठाणांग, रायपसेणीय सुत्त तथा कल्पसूत्र में संगीत संबंधी प्रचुर सामग्री पायी जाती है। यहां विवेच्य विषय स्थानाग सूत्र में प्ररूपित भारतीय संगीत विद्या का उपस्थापन करना है। स्थानांग में स्वर, स्वर स्थान, गीत, गीत के गुण दोष, वाद्य, मूर्च्छना आदि गान्धर्व-विषयों का सूत्र बद्ध विवरण पाया जाता है। जैन साहित्य आगम तथा आगमेतर दो भागों में विभक्त है। आगम प्राचीन साहित्य के रूप में जाना जाता है। स्थानांग इसी प्राचीन साहित्य का एक अंग है, जिसमें भगवान् महावीर की वाणी को गणधरों ने सूत्र बद्ध किया है। स्थानांग में उपलब्ध स्वर मंडल का क्रमिक उल्लेख प्रस्तुत है—

स्वर—संगीत रत्नाकार में संगीत के अर्थ में प्रयुक्त स्वर का अर्थ है—जो ध्वनि अपनी-अपनी श्रुतियों के अनुसार मर्यादित अन्तरों पर स्थित हो, जो स्निग्ध हो, जिसमें मर्यादित कम्पन हो और जो अनायास ही श्रोताओं को आकृष्ट कर लेती हो, उसे स्वर कहा है।

प्राचीन शास्त्रों के अनुसार सामान्य रूप से चार मुख्य स्वर माने गए हैं। १. वादी स्वर—जिसको स्वरों में राजा के समान अथवा सर्वश्रेष्ठ स्वर माना गया है। २. संवादी स्वर—जिसकी तुलना प्रधान मंत्री से की गई है। ३. अनुवादी—यह स्वर वादी और संवादी स्वरों का मित्र समझा जाता है। ४. विवादी स्वर—यह स्वर एक शत्रु के समान होता है, यह राग के चरित्र और उसके रूप को बिगाड़ता है। इन स्वरों का सही प्रयोग करके ही गायक या वादक अपने राग-प्रदर्शन में पूर्ण सफल होता है। प्राचीन शास्त्रों के अनुसार स्वरों के छह प्रकार और माने गए हैं—ग्रह, अंश, न्यास,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपन्यास, संन्यास और विन्यास।[४]

स्वर सात हैं—षड़ज, ऋषभ, गान्धार, माध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद।[५] इन्हें संक्षेप में स, रि, ग, म, प, ध, नी कहा जाता है। अंग्रेजी में क्रमशः Do, Re, Mi, Fa, So, Ka, Si, कहते हैं और इनके सांकेतिक चिह्न क्रमशः C, D, E, F, G, A, B हैं। सात स्वरों की व्याख्या इस प्रकार है—

१. षड्ज—नासा, कंठ, छाती, तालु, जिह्वा और दन्त इन छह स्थानों से उत्पन्न होने वाले इस स्वर को षड्ज कहा जाता है।

२. ऋषभ—नाभि से उठा हुआ वायु कंठ और शिर से आहत होकर वृषभ की तरह गर्जन करता है, उसे ऋषभ कहा जाता है।

३. गान्धार—नाभि से उठा हुआ वायु कण्ठ और शिर से आहत होकर व्यक्त होता है और इसमें एक विशेष प्रकार की गन्ध होती है, इसलिए इसे गान्धार कहा जाता है।

४. मध्यम—नाभि से उठा हुआ वायु वक्ष और हृदय में आहत होकर फिर नाभि में जाता है। यह काया के मध्यभाग में उत्पन्न होता है है, इसलिए इसे मध्यम स्वर कहा जाता है।

५. पंचम—नाभि से उठा हुआ वायु वक्ष, हृदय कंठ और सिर से आहत होकर व्यक्त होता है। यह पांच स्थानों से उत्पन्न होता है, इसलिए इसे पंचम स्वर कहा जाता है।

६. धैवत—यह पूर्वोत्थित स्वरों का अनुसंधान करता है, इसलिए इसे धैवत कहा जाता है।

७. निषाद—इसमें सब स्वर निषण्ण होते हैं इससे सब अभिभूत होते हैं, इसलिए इसे निषाद कहा जाता है।[६]

बौद्ध परम्परा में सात स्वरों के नाम ये हैं—सहर्ष्य, ऋषभ, गांधार, धैवत, निषाद, मध्यम तथा कैशिक।[७]

स्वर-स्थान—स्वर के उपकारी विशेषता प्रदान करने वाले स्थान को स्वर स्थान कहा जाता है। जिस स्वर की उत्पत्ति में जिस स्थान का व्यापार प्रधान होता है, उसे उसी स्वर का स्थान कहा जाता है। स्थानांग में सात स्वरों के सात स्थान वर्णित हैं—१. षड्ज का स्थान जिह्वा का अग्रभाग २. ऋषभ का वक्ष ३. गांधार का कण्ठ ४. मध्यम का जिह्वा का मध्य भाग, ५. पंचम का नासा ६. धैवत का दांत और होठ का संयोग ७. और निषाद का मूर्धा सिर।[८]

नारदीय शिक्षा में ये स्वर स्थान कुछ भिन्न प्रकार से उल्लिखित हुए हैं षड्ज कंठ से उत्पन्न होता हैं, ऋषभ सिर से, गान्धार नासिका से, मध्यम उर से, पंचम उर, सिर तथा कंठ से, धैवत ललाट से तथा निषाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर की संधियों से उत्पन्न होता है स्थानांग में उल्लेख मिलता है कि ये सातों स्वर नाभि से उत्पन्न होते हैं।[10]

इन सातों स्वरों के नामों की सार्थकता बताते हुए नारदी-शिक्षा में कहा गया है कि—षड्ज संज्ञा की सार्थकता इसमें है कि वह नासा आदि छह स्थानो से उद्भूत होता है। 'ऋषभ' अर्थात् बैल से समान नाद करने वाला है। 'गांधार' नासिका के लिए गन्धावह होने के कारण अन्वर्थक बताया गया है। 'मध्यम' की अन्वर्थकता इसमें है कि वह उरस जैसे मध्यम-वर्ती स्थान में आहत होता है। 'पंचम' संज्ञा इसलिए सार्थक है कि इसका उच्चारण पांच स्थानों नाभि आदि में सम्मिलित रूप से होता है।[11]

स्वर-लक्षण—स्थानांग में सातों स्वरों के लक्षणों का उल्लेख किया गया है[12]—

१. षड्ज स्वर वाले व्यक्ति आजीविका पाते हैं। उनका प्रयत्न निष्फल नहीं होता। उनके गाएं, मित्र और पुत्र होते हैं। वे स्त्रियों को प्रिय होते हैं।

२. ऋषभ स्वर वाले व्यक्ति को ऐश्वर्य, सेनापतित्व, धन, वस्त्र, गंध, आभूषण, स्त्री, शयन और आसन प्राप्त होते हैं।

३. गांधार स्वर वाले व्यक्ति गाने में कुशल श्रेष्ठ जीविका वाले कला में कुशल, कवि, प्राज्ञ और विभिन्न शास्त्रों के पारगामी होते हैं।

४. मध्यम स्वर वाले व्यक्ति सुख से जीते हैं, खाते, पीते हैं और दान देते हैं।

५. पंचम स्वर वाले व्यक्ति राजा, शूर, संग्रहकर्त्ता और अनेक गणों के नायक होते हैं।

६. धैवत स्वर वाले व्यक्ति कलहप्रिय, पक्षियों को मारनेवाले तथा हिरणों, सूअरों और मछलियों को मारने वाले होते हैं।

७. निषाद स्वर वाले व्यक्ति चाण्डाल-फांसी देने वाले, मुट्ठीबाज, विभिन्न पापकर्म करने वाले, गोघातक और चोर होते हैं।

स्थानांग में जीव तथा अजीव निश्रित ध्वनि के साथ सप्त स्वरों का उल्लेख मिलता है। जीव निश्रित सप्त स्वर निम्न हैं—

१. मयूर षड्ज स्वर में बोलता है। २. कुक्कुट ऋषभ स्वर में बोलता है। ३. हंस गांधार स्वर में बोलता है। ४. गवेलक मध्यम स्वर में बोलता है। ५. वसंत में कोयल पंचम स्वर में बोलती है। इसका अर्थ है कोयल सदा पंचम स्वर में नहीं बोलती है। ६. क्रौंच और सारस धैवत स्वर में बोलते हैं। ७. हाथी निषाद स्वर बोलता है।[13]

नारदी शिक्षा में प्राणियों की ध्वनि के साथ सप्त स्वरों का उल्लेख नितान्त भिन्न प्रकार से मिलता है—१. षड्ज स्वर—मयूर। २. ऋषभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वर—गाय। ३. गांधार स्वर—बकरी। ४. मध्यम स्वर—क्रौंच। ५. पंचम स्वर—कोयल। धैवत स्वर—अश्व। ७. निषाद स्वर—कुंजर।[१४]

अजीवनिश्रित सप्त स्वर इस प्रकार हैं—१. मृदङ्ग से षड्ज स्वर निकलता है। २. गोमुखी—नरसिंघा नामक बाजे से ऋषभ स्वर निकलता है। ३. शंख से गांधार स्वर निकलता है। ४. झल्लरी—झांझ से मध्य स्वर निकलता है। ५. चार चरणों पर प्रतिष्ठित गोधिका से पंचम स्वर निकलता है। ६. ढोल से धैवत स्वर निकलता है। ७. महाभेरी से निषाद स्वर निकलता है।

संगीत शिक्षा का सबसे बड़ा रहस्य यह है कि स्वरों को ठीक और सही ढंग से गाया जाये। स्वर हो सकता है निसर्ग से प्राप्त हो गया हो लेकिन उसकी रचना निर्मित है। यह रचना करने की पद्धति ही राग की कल्पना है। स्वरों की विशिष्ट रचना तथा आकृति राग है राग में प्रयुक्त स्वर एक तरह से सजीव बनते हैं।

स्थानांग में सप्त स्वरों के ग्राम मूर्च्छना आदि का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

ग्राम—यह समूहवाची शब्द है। संवादी स्वरों का वह समूह ग्राम है जिसमें श्रुतियां व्यवस्थित रूप में विद्यमान हों और जो मूर्च्छना, तान, वर्ण, क्रम, अलंकार इत्यादि का आश्रय हो।[१५] ग्राम तीन हैं—षड्जग्राम मध्यम ग्राम और गान्धार ग्राम।[१६]

षड्ज ग्राम—इसमें षड्ज स्वर चतुःश्रुति ऋषभ त्रिश्रुति गांधार द्विश्रुति, मध्यम चतुःश्रुति, पंचम चतुःश्रुति, धैवत त्रिश्रुति और निषाद द्विश्रुति होता है।[१७] सात स्वरों की २२ श्रुतियां हैं—षड्ज मध्यम और पंचम की चार-चार निषाद और गांधार की दो-दो और ऋषभ और धैवत की तीन-तीन श्रुतियां हैं (श्रुति-स्वरों के अतिरिक्त छोटी-छोटी सुरीली ध्वनिया)। वीर रौद्र अद्भुत रसों में नाटक की संधि में इसका विनियोग है। इस राग का देवता बृहस्पति है और वर्षाऋतु में, दिन के प्रथम प्रहर में, यह गेय है।[१८] यह शुद्ध राग है।

मध्यम ग्राम—इसमें षड्ज स्वर चतुःश्रुति, ऋषभ त्रिश्रुति, गांधार द्विश्रुति, मध्यम चतुःश्रुति, पंचम त्रिश्रुति, धैवत चतुःश्रुति और निषाद द्विश्रुति होता है। मध्यम ग्राम का विनियोग हास्य एवं शृंगार में है। यह राग ग्रीष्म ऋतु के प्रथम प्रहर में गाया जाता है[१९] महर्षि भरत ने सात शुद्ध रागों में इसे गिना है।

गान्धार ग्राम—इसमें षड्ज स्वर त्रिश्रुति, ऋषभ द्विश्रुति, गांधार चतुःश्रुति, मध्यम-पंचम और धैवत त्रि-त्रिश्रुति और निषाद चतुःश्रुति होता है। नारद की सम्मति के अनुसार गान्धार ग्राम के स्वर बहुत टेढ़े-भेढ़े हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः गाने में बहुत कठिनाईयां आती हैं। इसी दुरुहता के कारण इसका प्रयोग स्वर्ग में होता है।[20]

प्रत्येक स्वर सात तानों से गाया जाता है।[21] तान का अर्थ है—स्वर विस्तार, एक प्रकार की भाषा जनक राग। ग्राम रागों के आलाप-प्रकार भाषा कहलाते हैं।[22] कुछ आचार्यों ने लौकिक विनोद के लिए ग्रामजन्य रागों का प्रयोग निषिद्ध बतलाया है।[23]

मूर्च्छना—इसका अर्थ है—सात स्वरों का क्रमपूर्वक आरोह और अवरोह।[24] मूर्च्छना समस्त रागों की जननी है। महर्षि भरत ने इसका अर्थ सात स्वरों का क्रमपूर्वक प्रयोग किया है। यह चार प्रकार की होती है—१. पूर्णा २. षाडवा ३. औडुविता ४. साधारणा।[25] स्थानांग सूत्र में षड्ज आदि तीन ग्रामों की सात-सात मूर्च्छनाएं उल्लिखित हैं।[26] भरत नाट्य,[19] संगीत दामोदर, नारदीशिक्षा[27] आदि ग्रन्थों में भी मूर्च्छनाओं का उल्लेख है। वे भिन्न-भिन्न प्रकार से हैं। निम्नलिखित तालिका से मूर्च्छनाओं के नामों में कितना भेद है, स्पष्ट होता है—

स्थानांग सूत्र	भरतनाट्य	संगीत दामोदर	नारदीशिक्षा
	षड्जग्राम की मूर्च्छनाएं		
मंगी	उत्तरमंद्रा	ललिता	उत्तरमंद्रा
कौरवीया	रजनी	मध्यमा	अभिरुद्गता
हरित्	उत्तरायता	चित्रा	अश्वक्रान्ता
रजनी	शुद्धषड्जा	रोहिणी	सौवीरा
सारकान्ता	मत्सरीकृता	मतंगजा	हृष्यका
सारसी	अश्वक्रान्ता	सौवीरा	उत्तरायता
शुद्धषड्जा	अभिरुद्गता	षण्मध्या	रजनी
	मध्यमग्राम की मूर्च्छनाएं		
उत्तरमंदा	सौवीरी	पंचमा	नंदी
रजनी	हरिणाश्वा	मत्सरी	विशाला
उत्तरा	कलोपनता	मृदुमध्यमा	सुमुखी
उत्तरायता	शुद्धमध्या	शुद्धा	चित्रा
अश्वक्रान्ता	मार्गी	अन्द्रा	चित्रवती
सौवीरा	पौरवी	कलावती	सुखा
अभिरुद्गता	कृष्यका	तीव्रा	बला
	गान्धार ग्राम की मूर्च्छनाएं		
नंदी		सौद्री	आप्यायनी
क्षुद्रिका		ब्राह्मी	विश्वचूला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तूरका	गान्धार ग्राम	वैष्णवी	चन्द्रा
शुद्ध गांधारा	का	खेदरी	हेमा
उत्तर गांधारा	अस्तित्व नहीं	सुरा	कपर्दिनी
सुष्ठुतर आयाम	माना है।	नादावती	मैत्री
उत्तरायता कोटिमा		विशाला	बार्हती

नारदीशिक्षा में जो मूर्च्छनाओं का उल्लेख है, उनमें सात का सम्बन्ध देवताओं से, सात का पितरों से और सात का ऋषियों से है। शिक्षाकार के अनुसार मध्यम ग्रामीय मूर्च्छनाओं का प्रयोग यक्षों द्वारा, षड्जग्रामीय मूर्च्छनाओं का ऋषियों तथा लौकिक गायकों द्वारा तथा गान्धारग्रामीय मूर्च्छनाओं का प्रयोग गन्धर्वों द्वारा होता है।[२९]

स्थानांग सूत्र में स्वरों की उत्पत्ति, सप्त स्वरों का प्राणियों की ध्वनि से सम्बन्ध, स्वरों का मानव स्वभाव से सम्बन्ध, ग्राम तथा मूर्च्छना के साथ गीत के प्रकार, गीत के गुण-दोष का भी सुन्दर विवेचन उपलब्ध है।

गीत—स्वर-सन्निवेश, पद, ताल एवं मार्ग—इन चार अंगों से युक्त गान 'गीत' कहलाता है।[१०] रुदन को गीत की योनि-जाति कहा गया है।[११] गीत के छह दोष, आठ गुण, तीन वृत्त दो भणितियां होती हैं जो इन्हें जानता है, वही (सुशिक्षित व्यक्ति ही) इन्हें रंगमंच पर गाता है। इस संदर्भ में स्थानांग में उपलब्ध वर्णन प्रस्तुत है—

गीत में प्रयुक्त होनेवाली वृत्त-रचना त्रिविध होती है।[१२]

१. सम—जिसमें चारों चरणों के अक्षर समान हो।

२. अर्धसम—जिसमें पहले और तीसरे तथा दूसरे चौथे चरण के अक्षर समान हों।

३. सर्वविषम—जिसमें सभी चरणों के अक्षर विषम हों।

गीत-स्वर तंत्री आदि से संबंधित होकर सात प्रकार का हो जाता है[११]—१. तन्त्रीसम—तंत्री-स्वरों के साथ-साथ गाया जाने वाला गीत।

२. तालसम—तालवादन के साथ-साथ गाया जाने वाला गीत। दाहिने हाथ से ताली बजाना 'काम्या' है। बाएं हाथ से ताली बजाना 'ताल' और दोनों हाथो से ताली बजाना 'संनिपात' है।[३४]

३. पादसम—स्वर के अनुकूल निर्मित गेय पद के अनुसार गाया जाने वाला गीत।

४. लयसम—तालक्रिया के अनन्तर (अगली तालक्रिया से पूर्वतक) किया जाने वाला विश्राम लय कहलाता है।[३५] वीणा आदि को आहत करने पर जो लय उत्पन्न होती है, उसके अनुसार गाया जाने वाला गीत।

५. ग्रहसम—वीणा आदि के द्वारा जो स्वर पकड़े, उसी के अनुसार गाया जाने वाला गीत। इसे समग्रह भी कहा जाता हैं। ताल में सम, अतीत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अनागत—ये तीन ग्रह हैं। गीत, वाद्य और नृत्य के साथ होनेवाला ताल का आरम्भ अवपाणि या समग्रह, गीत आदि के पश्चात् होनेवाला ताल आरम्भ अवपाणि या अतीतग्रह तथा गीत आदि से पूर्व होनेवाला ताल का प्रारम्भ उपरिपाणि या अनागतग्रह कहलाता है। सम, अतीत और अनागत ग्रहों में क्रमशः मध्य, द्रुत और विलंबित लय होता है।[३६]

लय का संबंध भावाभिव्यक्ति से है। धीमी या विलंबित लय दुःख और निराशा की द्योतक होती है, द्रुत गति वीरता व प्रेरणा की द्योतक है। विलम्बित लय में गहनता व व्यापकता है, जो दुःख व निराशा की पोषक है। विलंबित लय से द्रुत लय में प्रेरक शक्ति ज्यादा प्रतीत होती है।

६. निःश्वसितोच्छ्वसितसम—सांस लेने और छोड़ने के क्रम का अतिक्रमण न करते हुए गाया जाने वाला गीत।

७. संचार सम—सितार आदि के साथ गाया जाने वाला गीत।

गीत का उच्छ्वास-काल (परिमाण-काल) का निर्णय करते हुए स्थानांग में बताया गया है जितने समय में किसी छन्द का एक चरण गाया जाता है, उतना उसका उच्छ्वास-काल होता है और उसके आकार तीन होते हैं—आदि में मृदु, मध्य में तीव्र और अन्त में मंद।[३७]

लय, स्वर तथा मूर्च्छनाओं में बंधकर ध्वनि संगीत की सृष्टि करती है। जिसे ललितकलाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसको मानव जीवन एवं व्यवहार का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। संगीत का सीधा संबंध मानव जीवन के भावात्मक स्तर से होता है। संगीत मानव को सच्चे रूप में प्रकट करता है। गीत का गान निर्दोष तथा गुणयुक्त होने के लिए निम्न दोषों का निराकरण आवश्यक माना गया है—

१. भीत-भयभीत होते हुए गाना। २. द्रुत—शीघ्रता से गाना। ३. ह्रस्व—शब्दों को लघु बनाकर गाना। ४. उत्ताल ताल से आगे पढ़कर या ताल के अनुसार न गाना। ५. काकस्वर—कौए की भांति कर्णपटु स्वर से गाना। ७. अनुनास—नाक से गाना।[३८]

नवांगी टीकाकार अभयदेव के अनुसार इसका विवरण इस प्रकार है—"भीतं त्रस्तमानसम्। द्रुतं त्वरितम्। रहस्यं ह्रस्व स्वरं लघुशब्दम्। उत्तालं अस्थानतालम्। काकस्वर अश्राव्य स्वरम्।" अर्थात् भीत दोष वह है जिसमें गाने के समय चित्त विक्षिप्त हो, द्रुत वह है जिससे गायन के अन्तर्गत अत्यधिक त्वरा हो, रहस्य में स्वरों तथा शब्दों का ह्रस्व तथा लघु उच्चारण होता है, उत्ताल से तात्पर्य तालहीनता से है, काकस्वर कर्कश तथा अश्राव्य स्वर के लिए संज्ञा है तथा आनुनासिक से तात्पर्य है स्वरोच्चारण में नासिका का प्रयोग करना।[३९]

नारदीशिक्षा में गीत के दोषों एवं गुणों का सुन्दर विवेचन प्राप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। उसके अनुसार दोष चौदह हैं—शंकित, भीत, उद्धृष्ट, अव्यक्त, अनुनासिक, काकस्वर, शिरोगत, स्थानवर्जित, विस्वर, विरस, विश्लिष्ट, विषमाहत, व्याकुल, तथा तालहीन।

'स्थानांग' में गीत गायन के संबंध में निम्न गुणों का उल्लेख किया है[४०]—

१. पूर्ण—स्वर के आरोह-अवरोह आदि परिपूर्ण होना।
२. रक्त—गाए जाने वाले राग से परिष्कृत होना।
३. अलंकृत—विभिन्न स्वरों से सुशोभित होना।
४. व्यक्त—स्पष्ट स्वर वाला होना।
५. अविघुष्ट—नियत या नियमित स्वर युक्त होना।
६. मधुर—मधुर स्वर युक्त होना।
७. सम—ताल, वीणा आदि का अनुगमन करना।
८. सुकुमार—ललित, कोमल-लययुक्त होना।

अभयदेव की टीका में इन गीतगुणों का निम्न स्पष्टी करण पाया जाता है—पूर्ण वह है जिसमें स्वर का उच्चारण उन्मुक्त कण्ठ से किया जाये। रक्त में रंजकता अथवा रसात्मकता विद्यमान होती है। विविध स्वरों का परस्पर गठन अलंकृत के लिए कारण होता है। संगीत के स्वर तथा शब्द का स्फुट उच्चारण व्यक्त कहलाता है। कोकिला के समान मधुरस्वरयुक्त गान मधुर, वेणु स्वर तथा ताल का सामंजस्य सम कहलाता है। सुकुमार वह लालित्य गुण है, जो स्वर के साथ नितान्त तादात्म्य के कारण है, गीत को मधुर बनाता है।[४१]

नारदीशिक्षा में दस गुणों का वर्णन प्राप्त है[४२]—रक्त, पूर्ण, अलंकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विकृष्ट, श्लक्ष्ण, सम, सुकुमार और मधुर।

स्थानांग में वर्णित गुण शृंखला में अन्य गुणों की भी प्राप्ति है—

९. उरोविशुद्ध—जो स्वर वक्ष में विशाल होता है।
१०. कण्ठविशुद्ध—जो स्वर कण्ठ में नहीं फटता।
११. शिरोविशुद्ध—जो स्वर सिर से उत्पन्न होकर भी नासिका से मिश्रित नहीं होता।
१२. ऋभित-घोलना—बहुत आलाप के कारण खेल-सा करते हुए स्वर।
१४. पद्ध बद्ध—गेय पदों से निबद्ध रचना। अक्षरों की नियत संख्या छन्द तथा यति के नियमों से नियन्त्रित पदसमूह 'पद्य पद' कहलाता है। इसे निबद्ध पद भी कहा गया है।[४३]
१५. समताल पदोत्क्षेप—जिसमें ताल, झांझ आदि का शब्द और नर्तक का पादनिक्षेप ये सब सम हों एक दूसरे से मिलते हों।
१६. सप्तस्वरसीभर—जिसमें सातों स्वर तंत्री आदि के सम हों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. निर्दोष—बत्तीस दोष रहित होना ।
१८. सारवत्—अर्थयुक्त होना ।
१९. हेतुयुक्त—हेतुयुक्त होना ।
२०. अलंकृत—काव्य के अलंकारों से युक्त होना ।
२१. उपनीत—उपसंहार युक्त होना ।
२२. सोपचार—कोमल, अविरुद्ध और अलज्जनीय का प्रतिपादन करना अथवा व्यंग या हंसी युक्त होना ।
२३. मित—पद और उसके अक्षरों से परिमित होना ।
२४. मधुर—शब्द, अर्थ और प्रतिपादन की दृष्टि से प्रिय होना ।

टीकाकार अभयदेव के अनुसार उरस्, शिर तथा कण्ठ तीनों स्थानों पर विशुद्ध प्रकार से गाया जानेवाला मृदुल गीत मृदुक कहलाता है । 'उरः कण्ठशिरोविशुद्धं मृदुकम्' । ऋभित वह गुण है जिसमें स्वर घोलना के आश्रय से रक्तिपूर्ण होता है—'यत्र अक्षरेषु घोलनया संवरन् स्वरः रंगतीव घोलनाबहुलमीत्यर्थः । घोलना संभवतः गमक का कोई प्रकार रहा हो जिसमें स्वर अपनी विशिष्ट श्रुति के अग्र तथा पार्श्व में संचार करता है । सीभर नामक गुण के अन्तर्गत स्वरों तथा अक्षरों का तुल्य प्रमाण महत्त्वपूर्ण होता है । इसका तात्पर्य संभवतः ऐसे गीत से है जिसमें स्वर-रचना के लिए आवश्यक शब्दों की ही रचना की जाती है । 'सप्तस्वरा अक्षरादिभिः समा यत्र ।'[४४]

स्थानांग में गीत की भणितियां—भाषा दो प्रकार की कही गई है—१. संस्कृत २. प्राकृत । ये दोनों प्रशस्त और ऋषिभाषित हैं । ये स्वरमंडल में गाई जाती है ।[४५]

संगीत के रागों का अस्तित्व स्वरों पर निर्भर है । इन स्वरों का भी विशेष अर्थ होता है । उनसे अलग-अलग भाव उत्पन्न होते हैं । किसी भी राग के स्वर उस राग के भावनात्मक वातावरण को प्रकाशित करते हैं ।[४६] मानव-स्वभाव और संगीत का अटूट संबंध है । स्त्री स्वभाव के साथ संगीत का सूक्ष्म विवेचन स्थानांग में उपलब्ध है । कुछ अंश प्रस्तुत है—श्यामा स्त्री मधुर गीत गाती है । काली स्त्री परुष और रूखा गाती है । केशी स्त्री चतुर गीत गाती है । काणी स्त्री विलम्ब गीत गाती है । पिंगला स्त्री विस्वर गीत गीत गाती है ।[४७]

भरत के नाट्यशास्त्र में सप्तरूप के नाम से प्रख्यात प्राचीन गीतों का वर्णन मिलता है । इन गीतों के नाम ये हैं—मंद्रक, अपरान्तक, प्रकरी, ओवेणक, उल्लोप्यक, रोविन्दक और उत्तर ।[४८]

स्थानांग में चार प्रकार के गेयों का नामोल्लेख है—उत्क्षिप्तक, पत्रक, मंद्रक, और रोविन्दक ।[४९] इनमें से दो का रोविन्दक और मंद्रक का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भरत नाट्योक्त रोविन्दक और मंद्रक से नाम साम्य है ।

स्थानांग में चार प्रकार के वाद्यों का भी उल्लेख किया गया है—१. तत-वीणा आदि । २. वितत-ढोल आदि । ३. घन-कांस्य ताल आदि । ४. शुषिर-बांसुरी आदि ।

१. तत— इसका अर्थ है—तंत्रीयुक्त बाद्य । भरत ने ततवाद्यों में विपंची एवं चित्रा को प्रमुख तथा कच्छपी एवं घोषका को उनका अंगभूत माना है ।[५०] आचार चूला[५१] तथा निशीथ[५२] में वीणा, विपंची, बद्धीसग, तुलय, पवण, तुंबवीणिया, ढंकुण और औड़य,—ये वाद्य तत के अन्तर्गत गिनाए हैं । संगीत दामोदर में तत के २९ प्रकार गिनाए गए हैं ।[५३]

२. वितत—चर्म से आनद्ध वाद्यों को वितत कहा जाता है । गीत और वाद्य के साथ ताल एवं लय प्रदर्शनार्थ इन चर्यावनद्ध वाद्यों का प्रयोग किया जाता है । इनमें मृदंग, पवण, दर्दुर, भेरी, डिंडिम, मृदंग आदि मुख्य हैं । ये वाद्य कोमल भावनाओं का उद्दीपन करने के साथ-साथ वीरोचित उत्साह बढ़ाने में भी कार्यकर होते हैं । अतः इनका उपयोग धार्मिक समारम्भों तथा युद्धों में भी रहा है ।[५४]

मुरज, पटह, ढक्का, विश्वक, दर्पवाद्य, घण, पणव, सरुहा, लाव, झल्ली, दुक्कली, उमस, ढमुकी आदि को भी वितत के अन्तंगन माना है ।[५५]

३. घन—कांस्य आदि धातुओं से निर्मित वाद्य घन कहलाते हैं । करताल, कांस्यवन, नयघटा, घर्घर, पटवाद्य, मंजीर आदि इसके कई प्रकार हैं ।

४. शुषिर—फूंक से बजाए जानवाले वाद्य । भरत मुनि ने इसके अंतर्गत वंश को अंगभूत और शंख तथा डिक्किनी आदि वाद्यों को प्रत्यंग माना है ।[५६]

यह माना जाता था कि वंशवादक को गीत संबंधी सभी गुणों से युक्त तथा बल संपन्न ओर दृढ़ानिल होना चाहिए ।[५७] जिसमें प्राणशक्ति की न्यूनता होती है वह शुषिर वाद्यों को बजाने में सफल नहीं हो सकता ।

स्थानांग में चार प्रकार के नाट्यों का नामोल्लेख भी प्राप्त होता है—१. अंचित २. रिभित ३. आरभट ४. भषोल । नाट्यशास्त्र में १०८ करण माने जाते हैं । करण का अर्थ हैं—अंग तथा प्रत्यंग की क्रियाओं को एक साथ करना । उपरोक्त वर्णित नाट्य के प्रकार इन्हीं करणों के भेद हैं ।[५८]

संगीत का शरीर, मन एवं आत्मा से अटूट संबंध है । संगीत में आनन्द प्रदान करने की शक्ति है । संगीत को चिकित्सा पद्धति के रूप में भी स्वीकार किया गया है । क्योंकि संगीत में अवधान हटाने की शक्ति, अति उत्तेजना कम करने की शक्ति और साथ ही शान्ति प्रदान करने की शक्ति है । रूचि के अनुसार रोगी को ध्रुपद' 'धमार' या 'खयाल' गायन सुनवाया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाय तो खयाल से अधिक प्रभावित होगा। खयाल में तराना, वाद्य में झाला व नृत्य में पदविन्यास रोगी को अधिक प्रभावित करते हैं, जिससे उसे मानसिक प्रसन्नता प्राप्त होती है।

भारतीय ऋषि मुनियों ने भी रोग निवारण में संगीत के महत्त्व को स्वीकार किया था। मनोवैज्ञानिकों का ऐसा विश्वास है कि संगीत में अच्छी अच्छी औषधियों के मुकाबले रोग निरोधक गुण अधिक हैं। भारत में प्रचलित 'शास्त्रीय संगीत' आजकल बीमारियां कम करने के काम लाया जा रहा है। उपचार के लिए भक्ति-संगीत और वाद्य पर लोकधुन बजाना अधिक अनुकूल है। प्रयोगत्तर्त्ताओं ने यह सिद्ध किया है कि 'वायलिन की मधुर ध्वनि' अति तीव्र सिरदर्द को १५ मिनट में दूर कर सकती है। 'हार्प' (**Harp**) एक वाद्य है जिससे हिस्टीरिया का रोग दूर हो सकता है।

भारतीय जनता का लौकिक व्यवहार सदा धर्म से अनुप्राणित रहा है। संगीतकला भी धार्मिक अभिव्यंजना से अछूती न रह सकी। जैन आगमों का जन-जन में प्रचार करने के लिए चलित नामक गीतों का उपयोग किया जाता था।[५९]

इस प्रकार संगीत एक सार्वभौमिक कला है। जिसका सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक महत्त्व है। यह सभी धर्मों एवं जातियों के मनुष्यों द्वारा एक स्वीकृत कला रहा है।

संदर्भ :

१. भारतीय सौन्दर्य दर्शन, ब्रजमोहन चतुर्वेदी पृ० २२
२. संगीत रत्नाकर अ० १, २१
३. नाट्य शास्त्र ४, २६०-६५
४. हमारा आधुनिक संगीत, डॉ० सुशीलकुमार चौबे, पृ० ६८
५. स्थानांग ७।३९
६. स्थानांगवृत्ति पत्र ३७४
७. लंकावतार सूत्र---अथ रावणो''''सहर्ष्य ऋषभ-गांधार-धैवत-निषाद-मध्यम-कैशिक-गीतस्वर
८. स्थानांग ७।४०
९. नारदी शिक्षा १।५।६,७
१०. स्थानांग ७।४८
११. भारतीय संगीत का इतिहास, पृष्ठ १२१
१२. स्थानांग ७।४३
१३. स्थानांग सूत्र ७।४१
१४. नारदीशिक्षा १।५।४,५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. मतङ्गःभरत कोश पृष्ठ १८९
१६. स्थानांग सूत्र ७।४४
१७. भरत : (बम्बई संस्करण) अध्याय २८ पृष्ठ ४३४
१८. संगीत रत्नाकार (अड्यार संस्करण) राग पृष्ठ २६-२७
१९. संगीत रत्नाकर (अड्यार संस्करण) राग, पृ० ५९
२०. प्रो० रामकृष्ण कवि, भरत कोश, पृष्ठ ५४२
२१. स्थानांग सूत्र ७।४८
२२. भरत का संगीत सिद्धांत, पृष्ठ २२६
२३. प्रो० रामकृष्ण कवि, भरतकोश, पृष्ठ ५४२
२४. संगीत रत्नाकार स्वर प्रकरण, पृष्ठ १८३, १८४
२५. वही पृष्ठ ११४
२६. स्थानांग सूत्र ७।४५,४६,४७
२७. भरत नाट्य २८-२७-३०
२८. नारदीशिक्षा १।२ १३,१४
२९. नारदीशिक्षा १।२,१३,१४
३०. संगीत रत्नाकर, कल्लीनाथकृत टीका, पृ० ३३
३१. स्थानांग सूत्र ७।४८
३२. स्थानांग सूत्र ७।४८, स्थानांग वृत्ति, पत्र ३७६
३३. स्थानांग सूत्र ७।४८
३४. भरत का संगीत सिद्धान्त पृष्ठ २३५
३५. भरत का संगीत सिद्धांत पृष्ठ २४२
३६. संगीत रत्नाकर, ताल, पृष्ठ २६
३७. स्थानांग सूत्र ७।४८
३८. स्थानांग सूत्र ७।४८
३९. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० १८७
४०. स्थानांग सूत्र ७४८
४१. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० १८७
४२. नारदीशिक्षा १।३।१
४३. भरत का नाट्यशास्त्र ३२।३९
४४. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० १८६-१८७
४५. स्थानांग सूत्र ७।४८
४६. हमारा आधुनिक संगीत पृ० ६८
४७. स्थानांग सूत्र ७।४८
४८. भरतनाट्यशास्त्र ३१।२८७
४९. स्थानांग सूत्र ४।६३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५०. भरतनाट्य ३३।१५
५१. अंगसुत्ताणि भाग १ पृ० २०९,, आयारचूला ११।२
५२. निसीहज्झयणं १७।१३८
५३. प्राचीन भारत के वाद्ययंत्र-कल्याण हिन्दू संस्कृति अंक) पृ० ७२१-७२२
५४. ठाणं टिप्पण पृ० ५३८
५५. प्राचीन भारत के वाद्ययंत्र-कल्याण (हिन्दू संस्कृति अंक पृ० ७२१-७२२
५६. भरतनाट्यशास्त्र ३३।१७
५७. वही, ३३, ४६४
५८. भारतीय संगीत का इतिहास, पृष्ठ ४२५
५९. बृहत्कल्प भाष्य १,२५ ६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'तुलसी-प्रज्ञा' के खंड १८ व १९ की लेख-सूची

☐ डॉ० परमेश्वर सोलंकी

(अकारादि क्रम)

खण्ड—१८

१. अनुप्रेक्षा : विचारों का सम्यक् चिन्तन—डॉ० रज्जन कुमार
(अंक ३, पृ० १८९-१९८)
२. अश्रुवीणा में बिम्ब योजना—डॉ० हरिशंकर पाण्डेय
(अंक १, पृ० ४१-४७)
३. आचार्य तुलसी की नई कृति : तेरापंथ प्रबोध—डॉ० हरिशंकर पाण्डेय
(अंक ३ पृ० २६५-२७२)
४. आचार्य श्री तुलसी की राजस्थानी भाषा-शैली—डॉ० मनोहर शर्मा
(अंक ३, पृ० २१३-२१८)
५. आचार्य श्री तुलसी स्तुति—मुनि नथमल
(अंक १, पृ० १४)
६. उत्तराध्यन के दो सन्दर्भ—डॉ० परमेश्वर सोलंकी
(अंक १, पृ० ३०)
७. उत्तराध्ययन सूत्र में प्रयुक्त उपमान : एक विवेचन—डॉ० हरिशंकर पांडेय
(अंक ३, पृ० २४५-२५५)
८. कवि हरिराज कृत प्राकृत मलयसुन्दरी चरियं—डॉ० प्रेमसुमन जैन
(अंक ३, प्र० १८१-१८८)
९. कृष्णदत्त बाजपेयी : एक श्रद्धांजलि—डॉ० परमेश्वर सोलंकी
(अंक ४, पृ० ३१६)
१०. काल का स्वरूप और उसके अवयव—डॉ० परमेश्वर सोलंकी
(अंक २, पृ० ७९-८५)
११. गांधीजी ने जैन जगत् को जगाया—डॉ० परमेश्वर सोलंकी
(अंक ३, पृ० २३६)
१२. गुण स्थान सिद्धांत का उद्भव और विकास—प्रो० सागरमल जैन
(अंक १, पृ० १५-२९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. जटासिंह नन्दि का वरांगचरित और उसकी परम्परा
—डॉ० सागरमल जैन (अंक २, पृ० ९३-१०५)
१४. जिनागमों का संपादन—जौहरीमल पारख
(अंक ४, पृ० २८५-२९२)
१५. जीवों और पौधों के लुप्त होने की समस्या—डॉ० सुरेश जैन एवं श्रीमती चित्रलेखा जैन (अंक ३, पृ० १७७-१८०)
१६. जिनसेनकृत हरिवंश पुराण में प्राचीन राजतंत्र का स्वरूप
—डॉ० सोहनकृष्ण पुरोहित (अंक ४, ३०९-३१५)
१७. जैन एवं जैनेतर राजनीति में दूत—डॉ० सुनीता कुमारी
(अंक १, पृ० ३१-३४)
१८. जैन तीर्थंकरों का गजाभिषेक—डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव
(अंक ३, पृ० १९९-२०५)
१९. जैन दर्शन-स्याद्वाद पद्धति—राजवीरसिंह शेखावत
(अंक १, पृ० ३५-४०)
२०. जैन द्रव्य सिद्धांत : परिचय और समीक्षा—राजवीरसिंह शेखावत
(अंक २, पृ० १२३-१३०)
२१. जैन परंपरा के विकास में श्राविकाओं का योगदान
—डॉ० महावीरराज गेलड़ा (अंक १, पृ० १-२)
२२. जैन प्रमाण मीमांसा में स्मृति प्रमाण—राजवीरसिंह शेखावत
(अंक ३, पृ० २२३-२३५)
२३. जैन वाङ्मय में उपलब्ध लब्धियों के प्रकार—मुनि विमलकुमार
(अंक २, पृ० १३१-१४४)
२४. तेरापंथ का राजस्थानी साहित्य-(२)—मुनि सुखलाल
(अंक १ पृ० ४९-५३)
२५. तेरापंथ के आधुनिक राजस्थानी संत-साहित्यकार-(३)
—मुनि सुखलाल (अंक २, पृ० १५१-१५६)
२६. तेरापंथ का संस्कृत-साहित्य : उद्भव और विकास-(२)
—मुनि गुलाबचंद्र 'निर्मोही' (अंक १, पृ० ५४-६२)
२७. तेरापंथ का संस्कृत साहित्य : उद्भव और विकास-(३)
—मुनि गुलाबचन्द्र 'निर्मोही' (अंक २, पृ० २३७-२४४)
२८. तेरापंथ का संस्कृत साहित्य : उद्भव और विकास-(४)
—मुनि गुलाबचंद्र 'निर्मोही' (अंक ४, पृ० ३१७-३२२)
२९. न्याय-वैशेषिक, योग एवं जैन दर्शनों के संदर्भ में ईश्वर
—डॉ० कमला पंत (अंक ४, पृ० ३२३-३३०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०. परमधर्म श्रुति विहित अहिंसा—डॉ० देव सहाय त्रिवेद
(अंक ३, पृ० २०६)

३१. पंच परमेष्ठि पद और अर्हन्त तथा अरिहन्त शब्द
—डॉ० परमेश्वर सोलंकी (अंक १, पृ० ३-१३)

३२. प्राकृत भाषा के कतिपय अव्यय—डॉ० हरिशंकर पाण्डेय
(अंक २, पृ० १७७-१२२)

३३. प्रमाण-मीमांसा के परिप्रेक्ष्य में प्रमाण के लक्षण का विवेचन
—कु० विनीता पाठक (अंक ३, पृ० २१९-२२२)

३४. बसंत विलास में वर्णित ऐतिहासिक तथ्यों का महत्त्व
—डॉ० केशव प्रसाद गुप्त (अंक २, पृ० १०७-११६)

३५. भाग्य को बदलने का सिद्धांत—रत्नलाल जैन
(अंक ३, पृ० २०७-२१२)

३६. रत्नपाल चरित : एक साहित्यिक अनुशीलन—डॉ० हरिशंकर पाण्डेय
(अंक ४, पृ० २९३-३०८)

३७. लोक देवता और उनके वाद्य—डॉ० जयचन्द्र शर्मा
(अंक ३, पृ० १९८)

३८. वर्द्धमान ग्रंथागार, लाडनूं की प्रत् और ऋग्वेद का ग्रंथाग्र : परिमान
—डॉ० परमेश्वर सोलंकी (अंक ४, पृ० २७३-२८४)

३९. षड् आस्तिक एवं बौद्ध दर्शनों में मान्य कर्मवाद से जैन सम्मत कर्मवाद की विशिष्टता—डॉ० कमला पंत (अंक १, ६३-७०)

४०. संस्कृत शतक परम्परा में आचार्य विद्यासागर के शतक एक परिचय
—श्रीमती डॉ० आशालता मलैया (अंक २, पृ० १४५-१५०)

४१. सांख्य दर्शन और गीता में प्रकृति : एक विवेचन—डॉ० कमला पंत
(अंक २, पृ० ८७-९२)

४२. स्याद्वाद : आधुनिक परिप्रेक्ष्य में—समणी स्थितप्रज्ञा
(अंक ४, पृ० ३३१-३३६)

४३. सृष्टि विज्ञान में जैन उल्लेखों का महत्त्व डॉ० परमेश्वर सोलंकी
(अंक ३, पृ० १७३-१७६)

४४. संपादकीय :

(१) अणुव्रत प्रस्तोता का ५७वां पाटोत्सव, अंक २, पृ० २-६
—परमेश्वर सोलंकी

(२) जैनागमों की भाषा का मूल स्वरूप, अंक १, पृ० २-३
—परमेश्वर सोलंकी

(३) उत्कल के "कलिंग जिन" अंक १, पृ० ४-६
—परमेश्वर सोलंकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) तेरापंथ-साहित्य के मुद्रण की शुरूआत, अंक ३, पृ० २-४
—परमेश्वर सोलंकी

(५) बडली जैन शिला लेख का महत्त्व और उसका अक्षर विन्यास
अंक ४, पृ० ३-५
—परमेश्वर सोलंकी

४५. पुस्तक समीक्षा :

नाम पुस्तक मयलेखक	समीक्षक	अंक व पृष्ठ

१. मारवाड़ी व्यापारी (डॉ० गिरिजाशंकर शर्मा) अंक १, पृ० ७१-७३
डॉ० भगवानदास गुप्त

२. कथ्य अपना तथ्य पराया (मुनि मोहनलाल सुजान) अंक १, पृ० ७३
डॉ० आनंदमंगल वाजपेयी

३. बिम्ब-प्रतिबिम्ब (मुनि मोहनलाल सुजान) अंक १, पृ० ७४
डॉ० आनंद मंगल वाजपेयी

४. मंजिल की पहुंच (मुनि मोहनलाल सुजान) अंक १, पृ० ७४
डॉ० आनंद मंगल वाजपेयी

५. राजस्थली-५१ (श्याम महर्षि) अंक १, पृ० ७५
डॉ० परमेश्वर सोलंकी

६. राजस्थानी शब्द सम्पदा (मूलचंद प्राणेश) अंक २, पृ० १५७-५९
डॉ० परमेश्वर सोलंकी

७. जैनदर्शन-दिग्दर्शन (मुनि श्री गणेशमल) अंक २, पृ० १५९-१६३
श्रीमती सुशीला चौहान

८. रोशनी की मीनारें (साध्वी निर्वाणश्री) अंक २, पृ० १६३-१६५
अमृतलाल शास्त्री

९. संस्कृत शतक परम्परा और आचार्य विद्यासागर के शतक अंक २
(डॉ० श्रीमती आशालता मलैया) डॉ० परमेश्वर सोलंकी पृ० १६५-१६७

१०. जैन धर्म और भक्ति (डॉ० प्रेमसागर जैन) अंक ३, पृ० २५७-२५९
डॉ० परमेश्वर सोलंकी

११. भारतरत्न डॉ० अम्बेडकर और बौद्ध धर्म अंक ३, पृ० २५९-२६०
(डॉ० भागचन्द्र जैन) डॉ० परमेश्वर सोलंकी

१२. जैन परामनोविज्ञान (डॉ० राजेन्द्र मुनि, साध्वी प्रभाश्री) डॉ० आनंद मंगल वाजपेयी अंक ३, पृ० २६०-२६२

१३. प्यार का गणित (शंकरलाल मेहता 'बाबूजी') अंक ३, पृ० २६२-६३
आनंद प्रकाश त्रिपाठी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. चिन्ता प्राची/चिन्तन : सूरज और मनस् क्रांति अंक ३, पृ० २६३-
(मुनि विमल सागर) परमेश्वर सोलंकी २६४
१५. जैन योग (भाग १-२) कला संस्थान, बीकानेर—
प्राप्ति स्वीकृति
१६. जैन काल गणना (चंद्रकांत बाली) ,,
१७. श्री रामदेव प्रकाश (बड़ा) रामसिंह वरणा ,,

खण्ड—१९

४६. अध्यात्म और विज्ञान—युवाचार्य महाप्रज्ञ
(अंक १, पृ० १-५)
४७. अध्यात्म और विज्ञान : परिसंवाद प्रतिवेदन—प्रो० दशरथसिंह
(अंक १, प्र० ३६-४६)
४८. अपडिण्णे—जौहरीमल पारख
(अंक २, पृ० ११५-१२८)
४९. अभिज्ञान शाकुन्तलम् में 'अभिज्ञान' शब्द—गोपाल शर्मा
(अंक ३, पृ० १७३-१७६)
५०. 'अश्रुवीणा' का गीतिकाव्यत्व—राय अश्विनी कुमार, हरिशंकर पाण्डेय
(अंक ३, पृ० १७७-१८८)
५१. आचार्य कुन्द कुन्द और परवर्ती साहित्य—डॉ० प्रेमसुमन जैन
(अंक २, पृ० ४९-५८)
५२. आचार्य कुन्द कुन्द का अनेकांत दर्शन—डॉ० अशोक कुमार जैन
(अंक २, पृ० ५९-६८)
५२(क) आचार्य श्री महाप्रज्ञ का साधना दर्शन—समणी स्थितप्रज्ञा
(अंक ४, पृ० ३६७-३७४)
५३. आत्मज्ञान और विज्ञान का समन्वय—श्री कृष्णराज मेहता
(अंक १, पृ० ६-९)
५४. कर्पूर मंजरी में सौन्दर्य भावना—राय अश्विनी कुमार, हरिशंकर पांडेय
(अंक २, पृ० १०१-११४)
५५. कालू यशोविलास में चित्रात्मकता—समणी सत्यप्रज्ञा
(अंक ४, पृ० ३५३-३६६)
५६. जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन—प्रो० सागरमल जैन
(अंक ४, पृ० २३२-२५०)
५७. जिनागमों का संपादन—के० आर० चन्द्र
(अंक २, पृ० १४१-१६०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५८. जैन दर्शन में पंच परमेष्ठी का स्वरूप—जगमहेन्द्र सिंह राणा
(अंक ३, पृ० १६९-१७२)

५९. जैन दर्शन में मांसाहार निषेध—राजवीरसिंह शेखावत
(अंक २, पृ० ८३-९२)

६०. जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में निःशस्त्रीकरण और विश्वशांति
—डॉ० बच्छराज दूगड़ (अंक २, पृ० ९३-१००)

६१. जैन दर्शन में मोक्षवाद—साध्वी श्रुतयशा
(अंक ३, पृ० १९१-२०२)

६२. जैन धर्म और आधुनिक विज्ञान—प्रो० सागरमल जैन
(अंक १, पृ० २१-३५)

६३. जैन संस्कृत वाङ्मय के ऐतिहासिक महाकाव्य—डॉ० केशवप्रसाद गुप्त
(अंक ४, पृ० २७७-२९०)

६४. डॉ० दौलतसिंह कोठारी (१९०६-१९९३) विज्ञान और अहिंसा का संगम
—बलभद्र भारती (अंक १, पृ० १६-२०)

६५. णमोकार मंत्र में 'ण' वर्ण का महत्त्व—डॉ० जयचन्द्र शर्मा
(अंक ३, पृ० १६५-१६८)

६६. तुलसी प्रज्ञा खण्ड १८ और १९ की लेख सूची—डॉ० परमेश्वर सोलंकी
(अंक ४, पृ० ३८९-३९६)

६७. ध्यान द्वात्रिंशिका में ध्यान का स्वरूप—समणी चैतन्यप्रज्ञा
(अंक ४, पृ० ३४५-३५२)

६८. प्रश्न व्याकरण में अहिंसा का स्वरूप—डॉ० हरिशंकर पाण्डेय
(अंक ४, पृ० ३०७-३१८)

६९. मगध का मौर्य शासक शालिशूक—उपेन्द्रनाथ राय
(अंक २, पृ० १३६-१४०)

७०. मनुष्य का क्रूरतापूर्ण आचरण बंद हो सकता है ?—समणी स्थितप्रज्ञा
(अंक ३, पृ० २५१-२५६)

७१. महाकवि भिक्षु के क्रांतिकारी आयाम—डॉ० हरिशंकर पाण्डेय
(अंक ३, पृ० २१५-२२०)

७२. रत्नपाल चरित में बिंबात्मकता—राय अश्विनी कुमार, हरिशंकर पांडेय
(अंक ४, पृ० २६३-२७६)

७३. रामचन्द्रसूरि एवं गुणचंद्र गणिकृत नाट्य दर्पण में मौलिक चिंतन
—कृष्णपाल त्रिपाठी (अंक ४, पृ० २९२-३०६)

७४. रात्रि भोजन विरमण व्रत : विभिन्न अवधारणाएं—साध्वी सिद्धप्रभा
(अंक ३, पृ० २०३-२०६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७५. विश्वशांति के पुरोधा : आचार्य श्री तुलसी—डॉ० परमेश्वर सोलंकी
(अंक ३, पृ० २२१-२३२)
७६. विज्ञान पर आध्यात्मिक नियंत्रण की आवश्यकता—डॉ० दयानंद भार्गव
(अंक १, पृ० १०-१५)
७७. शाकाहार : शास्त्रीय पक्ष—चन्द्रकांत शुक्ल
(अंक २, पृ० ७७-८२)
७८. श्वेताम्बर परम्परा का चन्द्र कुल और उसके प्रसिद्ध आचार्य
—शिवप्रसाद (अंक ४, पृ० ३१९-३४४)
७९. समराइच्च कहा : एक धर्म कथा—सुश्री निर्मला चोरड़िया
(अंक ३, पृ० २०७-२१४)
८०. स्थानांग में संगीत कला के तत्त्व—सुश्री निर्मला चोरड़िया
(अंक ४, पृ० ३७५-३८८)
८१. हर्षचरित में कुछ राजकुल—उपेन्द्रनाथ राय
(अंक २, पृ० १२९-१३५)

८२. पुस्तक समीक्षा :

१. दर्शन परिचय (राजेन्द्र स्वरूप भटनागर) अंक १, पृ० ४७
डॉ० दशरथसिंह
२. आगम संपादन की समस्याएं (युवाचार्य महाप्रज्ञ) अंक २, पृ०
डॉ० के० आर० चन्द्र १६१-१६२
३. मेरा जीवन : मेरा युग (राजेन्द्र प्रसाद जैन) अंक २, पृ० १६२-
परमेश्वर सोलंकी १६३
४. वल्लभ काव्यविभा (श्याम श्रोत्रिय) अंक २, १६३-१६४
आनंद मंगल वाजपेयी
५. आचार्य हरिषेण प्रणीत 'धम्म परिक्खा' अंक ३, पृ० २५७-२५९
(डॉ० भागचंद जैन) परमेश्वर सोलंकी
६. णाण सायर (अशोक जैन, कुसुम जैन) अंक ३, पृ० २५९-२६०
परमेश्वर सोलंकी
७. शोध समवेत (डॉ० श्यामसुन्दर निगम) अंक ३, पृ० २६०
परमेश्वर सोलंकी
८. अनुसंधान (हरिवल्लभ भायाणी) अंक ३, पृ० २६०-२६१
परमेश्वर सोलंकी
९. प्राकृत एवं जैन विद्या शोध संदर्भ अंक ३, पृ० २६१
परमेश्वर सोलंकी

—०—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूल-सुधार

कृपया खंड १९ अंक ४ पृ० ३३१ पर क्रमांक ९ की तिथि सुधार कर पढ़ें—**संवत् १२७५ वैशाख सुदि ४ बुधवार, वर्धमानसूरि के पट्टधर देवसूरि।**

—**संपादक**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

TULSĪ PRAJÑĀ

Vol. XIX : No. Four
Jan -March, 1994

English Section

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

LABORATORY COUNSELLING IN DISTANCE EDUCATION

● *R. K. Mithal*

The counselling sessions for laboratory classes are as important as theory classes. Several factors, viz., time, materials and space management play a decisive role in the methodology to be adopted for laboratory counselling. The objectives for the training period involve to gain insight into the scientific phenomena and learn skills required in the measurement of properties of materials, verify the laws and equations and determine the physical, chemical and biological principles.

The distance education institutions usually do not have their own laboratories to feed the requirements of the countrywide students. These institutions have to depend on the laboratories of the conventional colleges (study centres). The time requirement is also an important factor to impart practical training. Availability of time for students to conduct different practicals is limited and varies from student to student. It is mainly because the students are mostly employed or busy otherwise. Likewise, the laboratories of the study centres are available for distance education institutions for a limited period. These are mostly available during the summer vacations at the study centres in the colleges for six to eight weeks only. The practical training programmes, therefore, should be planned in such a manner that the training period suits the students and the study centre. The time schedule has to be prepared carefully, gainfully and purposefully after consulting both the parties.

As mentioned above, some factors like time, space and material management usually form the deciding factors for the success of training programme. As a conse-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

quence wise planning, committed participation and innovative approaches lead to the effectiveness and success of the mission. Time management requires the categorization and division of laboratory experiments into different types for the meaningful and effective training.

The practical syllabus has to be classified into different categories depending upon the time devoted to each experiment. This division would help to make the maximum use of the candidate's stay time in the conventional laboratory at the study centre.

The experiments are classified as : 1. The ***laboratory experiments*** have to be carried out by every student in the conventional laboratory using the equipment and apparatus under the supervision of the counsellor. 2. ***Home experiments*** are conducted by the student at home with improvised equipment and apparatus by using the materials available at home or the materials that can be easily procured from the local market at an affordable price. The guidelines and instructions are provided by the institution and the counsellor. Such experiments are also conducted by the student with the help of "***Home Kits***" at home. These kits are supplied by the institution. Laboratory manual is also sent alongwith. 3. ***Video demonstration experiments*** are meant for close observation. The students should therefore observe the experiment, its parts and operation etc. They have to learn the different parts of the apparatus and the skill to handle the equipment to perform the experiment. Such video experiments have, therefore, to be prepared by the University with great care keeping the objectives in mind. 4. ***Video interactive experiments*** are conducted in the studio and recorded on the video casette to make the student carefully watch the experiment and record the results of the experiments. The result are used for calculations by the students. They also interpret the results and draw inferences. These experiments are as good as ***laboratory experiments*** except somebody else does the experiment for the student on the video screen. 5. ***Computer simulation***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

experiments are responsible to explain the scientific phenomena, scientific laws and significance of scientific equations to the students. 6. *Mobile laboratory van experiments* are conducted in the van. This van replaces the conventional laboratory. Such experiments are laboratory experiments for the dropouts to help them to save the academic year. These experiments serve the needs of students of the study centre in rural areas and provide facilities for analysis and observations.

The experiments under *"laboratory experiments"* generally make 75 percent of the syllabus. Hence, the counsellor has to plan carefully about the schedule and execute them effectively and efficiently. Time management also plays a great role in the laboratory counselling.

While attending the counselling sessions, the counsellors should note down the following pertinent points: (i) Student's time is precious and every minute should be utilized properly. (ii) Since the students of distance education are mostly employed and aged, learning process is an additional work to their engagements in office and at home. (iii) The counsellor has to show affection towards his students and be committed to work. These are the two mainstay of a successful counsellor. (iv) It is also essential for the counsellor to enquire about his student's background and the level of practical training he had before. On the basis of the above information the students are grouped into two categories to impart effective counselling: Group I: Needs close attention. Group II: Needs normal attention. (v) In order to obtain the required information from the students, a questionaire has to be prepared by the counsellor. (vi) Counsellor has to make prior arrangements in order to obtain equipments, chemicals, specimens and slides. Such arrangements will facilitate the students to make maximum use of their study time in the laboratory. (vii) It also requires advance planning to obtain required material beforehand. (viii) The procedure to conduct the experiments should be

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

prepared step-by-step in the self-instructional manner. (ix). The instructions have to be prepared in such a manner that students are able to conduct the experiments correctly and accurately with little assistance of the counsellor. (x) Instruction charts are hung at the place of work and include : (a) description of the equipment, (b) detailed procedure to conduct the experiment, and (c) calculations. (xi) Counsellor shall guide and advice the students to accomplish part of the experiment at home, if the work demands. It would save their time in the laboratory. (xii) Students have to be motivated in advance to go through the lab manuals and come to the laboratory well prepared to make the maximum use of their time. (xiii) There are certain experiments which do not require individual training and, therefore, have to be arranged in such a manner that a small group of students accomplishes the experiment. Each group does part of the experiment. It would also help to save time. (xiv) It becomes oligatory on part of the counsellor to make the students to learn the skills of the experiment.

References :

1. Open University Course Material, 1989, Open University Educational Enterprises Ltd., Milton Keynes, England, pp iii, iv and v.
2. Ruddar Datt, 1991, Growth of Distance Education in India, Indian Journal of Distance Education, Vol. IV. Chandigarh.
3. Greville Rumble and Keith Harry (Eds.), 1982. The Distance Teaching Universities, Croom Helm, London
3. Bryan, R.C. 1968. Student Rating of Teachers. Improving College and University Teaching.
5. Daniel, J.C. 1983. Independence and Interaction in Distance Education. New Technologies for Home Study, PLET 20 (3)
6. Lockwood, F. 1979. Collecting Feedback During Course Preparation, Teaching at a Distance, 16.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

THE SOLUTIONS OF WORLD PROBLEMS FROM JAINA PERSPECTIVE

● *Sagarmal Jain*

We all are human beings first and as human beings the problems, humanity is facing today, are our own. As a matter of fact, we ourselves are responsible for their creation and it is we who have to bear their consequences also. Therefore we, the men of religion, cannot escape from their responsibility. It is our earnest duty to ponder over their roots and causes, to suggest their solutions and to make honest efforts for their eradication.

Problem of Mental Tension and its Solution

The growth of scientific knowledge and outlook has destroyed our superstitions and false dogmas. But unfortunately it has shaken our faith in spiritual and human values also. Today, we have more knowledge of and faith in the atom and atomic power than the values needed for meaningful and peaceful life. We rely more on atomic weapons as our true rescuer than on our fellow beings. It is also true that the advancement in science and technology has supplied us amenities for a pleasant living. Now a days the life on earth is so luxurious and pleasant as it was never before, yet because of the selfish and materialistic outlook, nobody is happy and satisfied. This advancement in all walks of life and knowledge could not sublimate our animal and selfish nature. The animal instinct lying within us is still forceful and is dominating our individual and social behaviour. What unfortunately happened is that the intoxication of ambition and success made us more greedy and egoistic. Our ambition and desires have no limits. They always remain unfulfilled and these unfulfilled desires create frustration. Frustration and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

resentments give birth to mental tensions. These days our life is full of excitements, emotional disorders and mental tensions. The people and nations, materially more affluent, having all the amenities of life, are more in the grip to tensions. Medical as well as psychological, reports of advanced nations confirm this fact. This shows that the cause of our tensions is not scarcity of the objects of necessities, but the endless desires and the lust for worldly enjoyment. Among the most burning problems the world is facing these days, the problem of mental tension is prime. We are living in tension all the time and are deprived of, even a pleasant sound sleep. The single and most specific feature by which our age may be characterised is that of tensions.

The main object of Jainism is to emancipate man from his sufferings i.e. mental tensions and thus to attain equanimity or tranquility. First of all, we must know the cause of these mental tensions. For Jainism the basic human sufferings are not physical, but mental. These mental sufferings or tensions are due to our attachment towards worldly objects. It is the attachment, which is fully responsible for them. The famous Jaina text Uttarādhyayana-sūtra mentions : "The root of all suffering, physical as well as mental, of every body including gods, is attachment, which is the root cause of mental tensions.[1] Only a detached attitude towards the objects of worldly enjoyment can free mankind from mental tension.

According to Lord Mahāvīra, to remain attached to sensuous objects is to remain in the whirl. Says he : Misery is gone in the case of a man who has no delusion; while delusion is gone, in the case of a man who has no desire; desire is gone in the case of a man who has no greed; while greed is gone in the case of a man who has no attachment."[2] The efforts made to satisfy the human desires through material objects can be likened to the chopping off of the branches while watering the roots. He further remarks that uncountable mountains of gold and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

silver like Kailasha can not satisfy the desires of human beings because desires are endless like sky.[3] Thus we can conclude that the lust for and the attachment towards the objects of worldly pleasure is the sole cause of human tensions.

If mankind is to be freed from mental tensions, it is necessary to grow a detached outlook in life. Jainism believes that the l sser the attachment, the greater will be the mental peace. It is only when attachment vanishes, that the human mind becomes free from mental tensions and emotional disorders, and attains equanimity which is the ultimate goal of all our religious practices and pursuits.[4]

The Problem of Survival of Human Race and Disarmament

The second important problem, the world is facing today is the problem of the survival of human race itself. Due to the tremendous advancement in war technology and nuclear weapons, the whole human race is standing on the verge of annihilation. Now it is not the question of survival of any one religion, culture or nation, but of the whole humanity. Today we have guided missiles but unfortunately unguided men. The madness of one nation or even an individual may lead to the destruction of whole humanity. Because of the advancement in scientific knowledge and out-look our faculty of faith has been destroyed. When mutual faith and faith in higher values of co-operation and co-existence is destroyed, doubts take place. Doubts cause fear, fear gives birth to the sense of insecurity, which results in accumulation of weapons. This mad race for accumulation of weapons is likely to lead to total annihilation of human race from this planet.

Thus, the problem of survival of mankind is related to the question of disarmament. For this, we will have to take two steps. First of all we will have to develop mutual faith or trust and thus remove the sense of fear and insecurity, which is the sole cause of armament-race, and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

second, to check the mad race for weapons. Let us think what means have been suggested by the Jainas to solve the problem of human survival and to check the mad race for weapons. For Jainas, it is the sense of insecurity which causes fear and vice a versa. Insecurity results in the accumulation of weapons. So it is our prime duty to develop the sense of security among fellow beings

In Sūtrakritāṅga, it is clearly mentioned that there is nothing higher than the sense of security, which a human being can give to others.[5] The virtue of fearlessness is supreme. It is two-fold (1) one should not fear from others and (2) one should not cause fear to others. A real Jaina saint is one who is free from fear and enmity[6]. When the fear vanishes and enmity dissolves there is no need for armaments. Thus, the sense of security and accumulation of arms and weapons are related to each other. Though arms and weapons are considered as means of security, yet these, instead of giving security, generate fear and a sense of insecurity in the opposite party and thus a mad race for accumulation of superior weapon starts.

Lord Mahāvīra had seen this truth centuries before that there is no end to this mad race for weapons. In Ācārāṅga (4th cent B. C.) he proclaimed "Atthi sattham pareṇaparaṁ, Natthi asattham pareṇparam" i.e. There are weapons superior to each other, but nothing is superior to asastra i.e. disarmament or non-violence. It is the selfish and aggressive outlook of an individual or a society that gives birth to war and violence. They are the expression and out come of our sick mentality. It is through firm faith in mutual credibility and non-violence that humanity can get rid of this mad race for nuclear weapons and thus can solve the problem of its survival.

The Problem of War and Violence

At the root of all types of wars and violence there lies the feeling of discontentment as well as the will for power and possession. According to Sūtrakritāṅga, the root of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

violence is attachment or will for possession[7]. A book namely 'Tension that causes war' tells us that economic inequalities, insecurities and frustrations create group conflicts.[8] It is true that in the old days the cause of war was only will for power and possession, whether it was the possession of women or land or money. But now-a-days econmic inequality, over population, sense of insecurity and unequal treatment on the basis of caste, creed and colour may be added to the causes of wars. Jaina thinkers have all the time, condemned war and violence. In Uttarādhyayana, it is much better to fight with one's own passionate self than to fight with others, If some one is to be conquered, it is no other than you own self. One who has got victory over one's own self is greater than the one conquers thousands and thousands of warriors.[9]

Though Jainas aim at complete eradication of war and violence from the earth, it is not possible as we are attached to and have possession for any thing-living or non-living, small or great. There are persons and nations who believe in the dictum "might is right'. Though aggressive and unjust war and violence is not acceptable to Jainas, they agree on the piont that all those who are attached to physical world and have a social obligation to protect other's life and property are unable to dispense with defensive war and violence. Jainas accept that perfect non-violence is possible only on spiritual plane by a spiritual being who is completely free from attachment and aversion and has full faith in the immortality of soul and thus remains undisturbed by the fear of death and sense of insecurity.

The problem of war and violence is mainly concerned with worldly beings. They cannot dispense with defensive and occupational violence. But what is expected of them is to minimize the violence at its lowest. Ignorant and innocent persons should not be killed in wars at any cost. Jaina thinkers have suggested various metholds and means for non-violent wars and for minimizing violence even in

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

just and defensive wars. They suggested two measures. First, the war should be fought without weapons and in the refereeship of some one. The war fought between Bharat and and Bāhubalī is an example of such a non-violent war. In our times Gāndhījī also planned a non-violent method of opposition and applied it successfully. But we must be aware of the fact that it is not possible for all to oppose non-violently with success. Only a man, who is detached even to his body and has heart free from malice can, protect his right non-violently. In addition to this such efforts can bear fruits only when raised against one who has human heart. Its success becomes dubitable when it has to deal with some one, who has no faith in human values and wants to serve his selfish motives. Jainism permits only a householder and not a monk to protect his rights through violent means in exceptional cases. But the fact remains that violence for Jainas is an evil and it cannot be justified as a virtue in any case.[10]

Problem of Disintegration of Human Society

The disintegration of human race also, is one of the basic problems, humanity is facing today. Really, the human race is one and we have erected the barriers of caste, creed, colour nationalities etc. and thus disintegrated the human race. We must be aware of the fact that our unity is natural while these divisions are artificial and man made. Due to these artificial man made divisions, we all are standing in opposition to one another. Instead of establishing harmony and mutual love, we are spreading hatred and hostility in the name of these man-made artificial divisions of caste, cr ed and colour. The pity is that we have become thirsty of the blood of our own fellow beings. It is a well known fact that countless wars have been fought on account of these man-made artificial divisions. Not only this, we are claiming the superiority of our own caste, creed and culture over others and thus throwing one class against the other. Now,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

not only in India but all over the world class-conflicts are becoming furious day by day and thus disturbing the peace and harmony of human society.

Jainism, from its inception, accepts the oneness of human race and opposes these man made divisions of caste and creed. Lord Mahāvīra declared that' human race is one[11]'. He further says that there is nothing like inferiority among them. All men are equal in their potentiality. None is superior and inferior as such. It is not the class but the purification of self or a good conduct that makes one superior.[12] It is only through the concept of equality and unity of mankind, which Jainism preached, from the very beginning, that we can eradicate the problem of disintegration and class-conflict. It is mutual faith and co-operation which can help us in this regard.

Jaina ācāryas hold that it is not the mutual conflict but mutual co-operation, which is the law of living. In his work Tattvārtha sūtra Umāswāti maintains that mutual co operation is the essential nature of human beings[13]. It is only through mutual faith, co-operation and unity that we can pave the way to proserity and peace of mankind. Though Jainas believe in the unity of mankind, yet for them unity doesn't mean abosolute unity. By unity they mean an organic-whole, in which every organ has its individual existence but work for a common goal, i.e. human good. For them unity means, 'unity in diversity'. They maintain that every race, every religion and every culture has full right to exist, with all its peculiarities, but at the same time, it is its pious duty to work for the welfare of the whole humanity and be prepared to sacrifice its own interest in the larger interest of humanity. In the Jaina text namely Sthānāñgasūtra there is the mention of Grāmadharma, Nagaradharma, Rāṣtradharma etc.[14] refering to one's duty to-wards one's village, city and nation that has to be fulfilled.

Problem of Economic Inequality and Consumer Culture

Economic inequality and vast differences in the mode

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of consumption are the two curses of our age. These disturb our social harmony and cause class-conflicts and wars. Among the causes of economic inequality, the will for possession, occupation or hoarding are the prime. Accumulation of wealth on the one side and the lust for worldly enjoyment on the other, are Jointly responsible for the emergence of present-day materialistic consumer culture. A tremendous advancement of the means of worldly enjoyment and the amenities of life has made us crazy for them. Even at the cost of health and wealth, we are madly after these. The vast differences in material possession as well as in the modes of consumption have divided the human race into two categories of 'Haves' and 'Have Nots'. At the dawn of human history also, undoubtedly, these classes were existant but never before, the vices of jealousy and hatred were as alarming as these are today. In the past; generally these classes were co-operative to each other while at present they are in conflicting mood. Not only disproprotionate distribution of wealth, but luxueious life, which rich people are leading these days, is the main cause for jealousy and hatred in the hearts of the poor.

Though wealth has to play an important role in our life and it is considered as one of the four purūṣārthas i.e. the pursuits of life, yet it cannot be maintained as the sole end of life. Jainas, all the time, consider wealth as a means to lead a life and not a destination. In Uttarādhyayana sūtra it has been rightly said "that no one who is unaware of treasurer of one's own protect one-self by wealth.[15] But it does not mean that Jaina ācāryas do not realise the importance of wealth in life. Ācārya Amrit Chandra maintains that the property or wealth is an external vitality of man. One who deprives a person of his wealth commits violence. Jainas accepts the utility of wealth, the only thing which they want to say is that wealth is always a means and it should not be considered as an end.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

No doubt wealth is considered as a means by materialist and spiritualist as well, the only difference is that for materialist it is a means to lead a luxurious life but for spiritualist, as well as Jainas, it is a means to the welfare of human society and not for one's own enjoyment. The accumulation of wealth in itself is not an evil but it is the attachment towards its hording and lust for enjoyment of it, which makes it an evil. If we want to save the humanity from class-conflicts, we will have to accept self imposed limitation on our possessions and modes of consumption. That is why Lord Mahāvīra has propounded the vow of complete non-possession for monks and nuns and vow of limitation of possession for laities.

Secondly, to have a check on our luxurious life and modes of consumption he prescribed the vow of limitation in consumption. The property and wealth should be used for the welfare of humanity and to serve the needy, he proscribed the vow of charity. In Jainism the vow of charity is named as Atithi saṁvibhāga. It shows that charity is not an obligation towords the monks and weaker sections of society but through charity we give them what is their right. In Jainism it is the pious duty of a householder to fix a limit to his possessions as well as for his consumption and to use his extra money for the service of man-kind. It is through the observation of these vows that we can restore peace and harmony in human society and eradicate economic inequality and class conflcts.

Problem of Conflicts in Ideologies and Faiths

Jainism holds that reality is complex. It can be looked at and understood from various view-points or angles. For example, we can have hundreds of photographs of one tree from different angles. Though all of them give a true picture of it from a certain angle, yet they differ from each other. Not only this out neither each of them, nor the whole of them can give us a complete picture of that tree. They, individually as well as jointly, will give only a partial picture of it. So is the case with human knowledge

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

and understanding also we can have only a partial and relative picture of reality. In fact, we cannot challenge its validity or truth-value, but at the same time we must be aware of the fact that it is only a partial truth or one-sided view. One who knows only partial truth or has a one-sided picture of reality, has no right to discard the views of his opponents as totally false. We must accepts that the views of our opponents may also be true from some other angles.

The Jaina-theory of Anekāntavāda emphasises that all the approaches to understand the reality give partial but true picture of reality, and due to their truth-value from a certain angle we should have regard for other's ideologies and faiths. The Anekāntvāda forbids to be dogmatic and one-sided in our approach. It preaches us a broader outlook and greater open mindedness, which is more essential to solve the conflicts taking place due to the differences in ideologies and faiths. Prof. T. G. Kalghatgi rightly observes : 'The spirit of Anekanta is very much a necessary in society, specially in the present days, when conflicting ideologies are trying to assert supremacy aggressively. Anekanta brings the spirit of intellectual and social tolerance.'

For the present-day society what is awfully needed is the virtue of tolerance. This virtue of tolerance i.e. regard for others ideologies and faiths has been maintained in Jainism from the very beginning. Mahāvīra mentions in the Sutrakṛtāñga, those who praise their own faiths and ideologies and blame those of their opponents and thus distort the truth will remain confined to the cycle of birth and death.[17] Jaina philosophers have all the time maintained that all the view points are true in respect of what they have themselves to say, but they are false in so far as they refute totally other's view-points. Here I would like to quote beautiful verses from Haribhadra (8th century A. D.) and Hemchandra (12th century A. D.), which are the best examples of religious tolerance in Jainism. Hari-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

says ; "I bear no bias towards Lord Mahavira and no disregard to the Kapila and other saints and thinders, whatsoever is rational and logical ought to be accepted.[18] Hemchndra says" "I bow to all those who have overcome attachment and hatred, which are the cause of worldly existence, be they Brahma, Visnu, Siva or Jain[19]. Thus, Jaina saints have tried all the times to maintain the harmony in different religious-faiths and tried to aviod religious conflicts.

The basic problems of present day society are mental tensions, violence and conflicts of ideologies and faiths. Jainism had tried to solve these problems of mankind through the three basic tenets of non-attachment (Aprigraha), non-violence (Ahimsa) and non-absolutism (Anekanta). If mankind observes these three principals, peace and harmony can certainly be established in the world.

Problem of the Preservation of Ecological Equilibrium

The world has been facing a number of problems such as mental tensions, war and violence, ideological conflicts, economic inequality, political subjugation and class conflicts not only today but from its remote past. Though some of these have assumed an alarming proportion today, yet no doubt the most crucial problem of our age is, or for coming generation would be, that of ecological disbalance. Only a half century back we could not even think of it. But today every one is aware that ecological disbalance is directly related to the very survival of human race. It indicates lack of equilibrium or disbalance of nature and pollution of air, water etc. It is concerned not only with human beings and their environment, but with animal life and plant-life as well.

Jainism, presents various solution of this ecological problem through its theory of non-violence, Jainas hold that not only human and animal beings but earth, water, air, fire and vegetable kingdom are also sentient and living beings. For Jainas to pollute, to disturb, to hurt and to

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

destroy them means commit the violence against them, which is a sinful act. Thus their firm belief in doctrine that earth, water, air, fire and vegetable paved a way for the protection of ecological balance. Their every religious activity starts with seeking forgiveness and repentance for disturbing or hurting earth, water, air and vegetation.

Jain-ācāryas had made various restrictions on the use of water, air and green vegetables, not only for monks and nuns but for laities also. Jainas have laid more emphasis on the protection of wild-life and plants. According to them hunting is one of the seven serious offences or vices. It is prohibited for every Jaina whether a monk or a laity. Prohibitions for hunting and meat-eating are the fundamental conditions for being a Jaina. The similarity between plant-life and human life is beautifully explained in Ācārāñgasūtra. To hurt the plant life is as sinful act to hurt human life. In Jainism monks are not allowed to eat raw-vegetables and to drink un-boiled water. They cannot enter the river or a tank for bathing. Not only this, there are restrictions, for monks, on crossing the river while on their way to tours. These rules are prevalent and observed even today. The Jaina monks and nuns are allowed to drink only boiled water or lifeless water. They can eat only ripe fruits, if their seeds taken out. Not only monks, but in Jaina community some house-holders are also observing these rules. Monks and nuns of some of the Jaina sects, place a peace of cloth on their mouths to check the pollution of air. Jaina monks are not allowed to pluck even a leaf or a flower from a tree. Not only this, while walking they always remain conscious that no insect or greenery is trampled under their feet. They use very very soft brushes to avoid the violence of smallest living beings. In short Jaina monks and nuns are over conscious about the pollution of air, water etc.

So far as Jaina house-holders are concerned they take such vows as to use a limited and little quantity of water and vegetables for their daily use. For a Jaina water is

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

more precious than ghee or butter. To cut forest or to dry the tanks or ponds is considered as a very serious offence for house holder. As per rule Jaina house-holders are not permitted to run such type of large scale industries which pollute air and water and lead to the violence of plant-life and animal-kingdom. The industries which produce smoke in large quantity are also prohibited by jainācāryas. The types of these industries are terms as 'maharambha' meaning greatest sin and larger violence. It is considered as one of the causes for hellish life. Thus, Jainas take into consideration not only the, violence of small creatures but even earth, water, air, etc. also. The fifteen types of industries and bussiness, prohabited for the house-holder are mainly concerned with, ecological disbalance, pollu tion of environment and violence of living beings. Though Jainācāryas permitted agriculture for house-holders, yet the use of pesticides in the agriculture is not agreable to them, because it not only kills the insects but pollutes the atmostphers as well as our food items also. To use pesticides in agriculture is against their theory of non-violence. Thus we can conclude that Jainas were well aware of the problem of ecological disbalance and they made certain restrictions to avoid this and to maintain ecological equilibrium, for it is based on their supreme principle of non-violence. □

References

1. Uttarādhyayana, 32/29.
2. Ibid., 32/8.
3. Ibid., 9/48.
4. Ācārāṅga, 1/8/4.
5. Sūtrakritāṅga, 1/6/23.
6. Uttarādhyayan, 6/6.
7. Ācārāṅga, 1/3/4.
8. Sūtrakritāṅga, 1/1/1/1.
9. Uttarādhyayana, 9/34.
10. Jain Journal, Vol. 22, July 1987, No. 1, pp. 16-17.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

11. Ekka Manussa Jāi, Gatha, 1/26.
(Compiled by Yuvachraya Maha Prajna, Published by Jaina Vishwa Bharati Ladnun)
12. Ācārāṅga, 1/2/3/75.
13. Tattvārthasūtra, 5/21.
14. Sthānā ṅgasūtra, 10/135.
15. Uttarādhyayan, 4/5.
16. Vaishali Institute Research Bulletin, No. 4, p. 31.
17. Sūtrakritāṅga, 1/1/2/33.
18. Lokatattvanirṇaya (Haribhadra), 38.
19. Mahādevastrotra (Hemchandra), 44.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"NON-VIOLENCE OF THE WEAK" AND "NON-VIOLENCE OF THE BRAVE"

● *Sampooran Singh*

The tool of *Satyagraha* (passive resistance, civil disobedience) having its foundations on *Ahimsa* (non-violence), in the hands of Mahatma M. K. Gandhi, brought liberation of India. The non-violence appeared to have failed to check the tide of communal disturbances in the middle of 1947. Gandhi wrote :

> The non-violence that was offered during the past thirty years was that of the weak..... India has no experience of the non-violence of the strong..... The people had followed him then, because they knew they could not face the might of the British arms in any other way. It was the non-violence of the weak.[1]
>
> It had become clear to him that what he had mistaken for *Satyagraha* was not *Satyagraha* but passive resistance—a weapon of the weak..... The attitude of violence which we had secretly harboured, in spite of the restraint imposed by the Indian National Congress. now recoiled upon us and made us fly at each other's throats when the question of the distribution of power came up.[2]
>
> It was the duty of Free India to perfect the instrument of non-violence for dissolving collective conflicts, if its freedom was going to be really worth while.[2]

Mankind at all times and at all places throughout history, has justified violence and was in terms of unavoidable self-defence. It was a simple rule that the violence of the aggressor could only be defeated by superior violence of the defender. Violence always thrived on counter-violence. All over the world man had thus been caught in fear and search for security which has led to the mad race

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

for armaments; it is leading him to schizophrenia; and these open up the possibility of annihilation of man. Man is now challenging the whole de-humanizing process, the total violence in human mind. He is keen to shed fear, search for security and violence in the mind.

Non-violence implies that man would never surrender his sense of human unity and brotherhood even in the midst of conflict of interests, who would ever try to convert and not coerce his adversary. This write up presents a depth probe into "non-violence of the weak" and "Non-violence of the brave", so that this understanding may enable man to transform himself, to undertake the journey from violence to non-violence of the mind.

Evolutionary Rise of Violent Man : Man has an evolutionary rise. He transferred the animal instincts to his psychological level. Man's evolution is not biological but psychosocial, it implies dominant patterns of thought organization. He has trained the mind in one groove. He records all events or challenges in the external field as sensual perception; he recalls the past memory which interacts with the challenge; the interaction transforms the challenge to modified memory; and he is aware of his modified memory or perceptual-conceptual perception or reaction. He constantly reacts to the outer environments/ challenges. The reaction is violence to human mind because this mode of functioning is unnatural. All thought patterns basically mean violence in human mind at thought, word and action levels. All psychological structures express themselves as violence. J. Krishnamurti concludes, "We have built a society which is violent and we, as human beings, are violent..... Throughout existence, human beings have been violent and are violent."[3] We have accumulated violence—cultured violence, self protective violence, the violence of competition, the violence of trying to be somebody, and so on. Technologically, man has advanced incredibly; but technology has added to the violence of the mind.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Non-violence of the Weak : We opine that when the mind contains the seeds of violence, but due to some fear, due to some discipline, due to some authority, due to some moral code, and so on, our action in the external field is non-violent, then the non-violent non-cooperation struggle becomes a passiv resistance of the weak or non-violence of the weak. The action is governed by an ideal which is "to be non-violent", so there is a gap, the psychological time, between the inner violence and outer non-violence. The outer non-violence affects the surface consciousness and it cannot penetrate the violence of the subconscious. The outer non-violence does not transform the violence in th subconscious. The outer non-violence is an illusion, it is virtual, not real. The non-violence of the weak implies the external non-violence, which is based on an idea; and the idea is based on the past memory, on the past psychological structure, on the ego, the I—consciousness, the "I" and the "me".

Non-Violence of the Brave : If there is action, which is without ideation, which is not the result of experience, which is not governed by thought, then such action is "non-violence of the brave". Non-violence implies to see "what actually is", and not "what should be"; it is to see the violence in thought, word and action, or in the mind. Non-violence is a state in which the thought process, as psychological time, has completely ceased; this implies that the inner violence has gone to abeyance, and intelligence expresses itself, and the action is spontaneous. ***Animsa*** transcends the violent mind; it strengthens the ties of filial love, mutual respect and mutual trust. It is a new dimension of consciousness with which mankind is not acquinted. It is ***ahimsa*** of the brave that can solve collective conflicts, national issues, communal squabbles, so ***ahimsa*** is always infallible. ***Ahimsa*** of the strong can solve all human problems. ***Ahimsa*** is a weapon of matchless potency, It is the ***summum bonum*** of life.

The True Art of Self-Defence : Due to evolutionary

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

rise of man, the content of human consciousness is violence. Man has emerged as a violent species and the violence is stored as memory, or cultural belief structure in the human brain. Physical violence is that you shoot with a gun, or you throw a bomb, or you hit/slap/injure. Psychological violence is the inward anger, hatred, wanting or dominate people, not only physical domination, but the domination of ideas. The inward violence is psychological dependence, imitation, conformity, domination; it results in rupture and opposition to the laws of nature. Obviously, physical violence is a projection of the psychological violence. There is only 'what is', that is, I am violent. Psychologically, inwardly, there is only the fact. When the mind is engaged in inward violence, it constructs a thought what "I should be"—for example, you are violent and you construct a projection that "I should be non-violent". The non-violence is an idea, a concept, a non-fact, not actuality. Self-defence, at this level, is justifying the violent idea; and this justification constructs the non-fact, the ideal, an escape route. The root of self-defence is momentum of the past thought and its projection in the future, which, is, in principle, the past. It is illusory, it is false. There is always conflict between the violence, the fact, what I am, and the non-violence, the non-fact, what I should be. This conflict brings in psychological time and time is the source of pain, misery and suffering.

The whole nation (and perhaps the whole mankind) is governed by the psychological imbalance, which is not knowing 'what is' and action is oriented from 'what should be'. The psychological imbalances or "bottled violence" in 1947 in India, resulted in communal riots. The Congress President of the A.I.C.C. in 1947 said that "Gandhiji had not been able to show the way of combating communal strife in a non-violent manner as he had done in the case of fighting the British".[4] We started living with non-violence, which is an idea of the opposite, and we forgot the violence, the fact. Gandhi admitted, "India's *Satyagraha* was a very imperfect instrument in that direction.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Hence, during the Hindu-Muslim quarrel it proved a failure on the whole".[5] He called this as "non-violence of the weak", or this was not *Satyagraha* but "passive resistance—a weapon of the weak".[6]

Many eminent scientists—including Einstein, Schrodinger, Heisenberg, Eddington—realised the inadequacy of dualistic knowledge and have stumbled upon another mode of knowing, which is called the intimate, or intuitive, or direct, or non-dual knowledge. They advocated understanding of life directly, instead of in the abstract, linear terms of representational thinking. The relative frame of reference (dualistic knowledge) makes a quantum jump to the absolute rest frame (non-dual knowledge) in the mind spectrum. The absolute rest frame or the understanding of life directly has the capacity to see the fact and to live with the fact. The absolute rest frame bestows the true art of self-defence—in the words of Gandhi, "the true defence lay along the path of non-retaliation"[5] or non-reaction; or the true defence is embedded in a non-violent frame of reference in the mind spectrum. It is the understanding of life directly that can bestow "pure non-violence of the brave". Gandhi also opined that "India was not ready for the lesson of the *ahimsa* of the strong",[4] and "India has no experience of the non-violence of the strong".[4] It is understanding of life directly that can make the world safe enough for turning the sword into the plough and this will bestow the true art of self-defence. The word self-defence implies healing the mind-brain-body system and defending the survival of the individual and the human species, or to save mankind from annihilation. It makes a man unlabelled, belonging to the whole human family, learning to live in co-operation and friendship. There is no hope for the aching world except through the narrow and straight path of non-violence. It can save mankind from total annihilation. That is the only challenge with which man in this last decade of the twentieth century is faced.

Violence is disorder, disharmony and non-violence is order, harmony and music. Violence is fairly high level of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

disorderliness (fairly high level of entropy) and non-violence is fairly high level of orderliness (fairly low level of entropy). Violence tends to approach the dangerous state of maximum entropy which is death. When a frame of reference of mind stops adding, or decreases, the entropy of the system, it is ready for a quantum jump. A quantum jump from violence to non-violence implies a quantum jump from a fairly high level of entropy to a fairly low level of entropy. Conditioned energy is violence and unconditioned energy is non-violence. When the mind is at the lowest level of entropy, there is no conflict and the frame of reference of mind revels in peace, freedom and bliss. The non-violence of the brave implies to have an equipoised, balanced and silenced frame of reference in the mind spectrum.

The final battle for the survival of civilisation and perhaps the human race itself has thus to be fought in the psyche of man, in the mutation of the human psyche. Our's has been called the psychic age. The gigantic catastrophes that threaten us are psychic events. Wars and such upheavals of violence are in their fundamental nature "psychic epidemics". Behind these phenomena, is the individual neurosis and the mass neurosis that afflicts our age. One has to end the violence in thought, word and deed in the human psyche, which implies transcending thought-time, and in this ending is the preparation of *ahimsa* in its fullness. Ending of thought-time implies that psychologically one has to reduce oneself to *zero* or ending of all psychological imbalances. When thought-time goes to abeyance, the unconditioned energy gets activised, which implies that truth combined with non-violence bathes the brain. The unconditioned energy, the Fundamental Vibration is monochromatic (same frequency) and coherent (all waves are in phase) beam of conscious energy, or in other words, it is pure truth combined with non-violence. Non-dual thought is a quanta of Fundamental Vibration; it is a living enactment of the wholeness; so one revels in peace, freedom and bliss. Such a person is a

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"living conduit of cosmic power, the power of truth", "the highest expression of the unconditioned energy".

Gandhi affirmed that the inner universe of man is governed by laws that are immutable.[6] He affirmed, "Earth and heaven are in us. We know the earth, and we are strangers to the Heaven within us".[7] Gandhi declared. "I believe in the essential unity of man and for that matter of all that lives. Therefore I believe that if one man gains spiritually, the whole world gains with him and, if one man falls, the whole world falls to that extent".[8]

Answering a question, "How would you meet the atom bomb.....with non-violence" on January 30, 1948, just a few hours before he was killed; Gandhi replied, "I will not go underground. I will not go into shelter. I will come out in the open and let the pilot see that I have not a trace of ill-will against him. The pilot will not see our faces from his great height, I know. But the longing in our hearts—that he will not come to harm—would reach up to him and his eyes would be opened".[9] This statement is not his faith or a mystical belief, but a fact that a non-violent mind is at a higher quantum energy potential than a violent mind, and has the potential of transforming a violent mind. This would involve a suffering. Gandhi said, "It was this unalloyed self-suffering which was the truest form a self-defence which knew no surrender".[5] The present era will be associated by the future historians with two world-shaking events, viz,, the discovery and fabrication of nuclear weapons and the demonstration of the hidden power of mind, which, in common parlance, is called the power of the *atman* or soul force.[10] In a moment of rare illumination, Thoreau wrote, "Love.....never ceases, it never slacks. Its power is incalculable; it can move the globe without a resting place... ..Shall we not contribute our share to this enterprise then?"[11] Tolstoy, a couple of months before Gandhi's death, wrote, "The whole of Christian world and non-christian world was bound one day to participate (in the non-violent work)".[12]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

There is an urgency for a joint exploration, or international cooperation, for understanding the unique powers of mind for human excellence, or in other words, a collective venture for mutation of human mind under the auspices of the United Nations, as "seemingly impossible discoveries will be made in the field of non-violence".[10] The weapon of "non-violence of the brave" is the fruit and culmination of the researches of savants from all over the world. It is the common heritage of all the downtrodden and oppressed peoples of the earth in the battle of right against wrong, of freedom and justice against tyranny, of the "soul force" against the power of the armaments; and if one might say, their only hope.

A New Vision of Truth and Non-Violence : The principle of Truth and ahimsa (Non-Violence) self-expresses itself when one looks for the cause within oneself. It is to turn the searchlight inward and then wait for the answer. The causation of the problem can be ended, not through a solution, but through the understanding of the problem itself. If we all seek together the causation, then the thing is solved. Seeing the cause implies understanding the dynamics and limitations of the mind-brain system and living in the light of that understanding. The art of "the non-violence of the brave", or "the *Satyagraha* of the brave" cannot be taught or practised, but it self-expresses itself when there is understanding of the total psychological process of the mind-brain system *Satyagraha* is a living principle; it cannot be put in dead words, it cannot be summed up in inflexible set formulae; it cannot be cultivated by following a discipline; and it comes when we deeply understand the dynamics of one's own mind in action. Understanding comes only through self-knowledge, which is awareness of one's total psychological process. In the art of observation, there is nothing like a failure; every observation is a discovery and stepping stone to success. There is no place for a feeling of despondency or defeat but always of steady progress towards the goal in spite of apparent failure and set-backs. The goal is to end

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the psychological inventory, the cultural belief structure, as that will energise the Universal Consciousness.

The foundation of sustainable peace is embedded in the non-violent frame of reference of mind spectrum. All investigations of science are trivial in comparison to exploration of the mind-brain system, which falls under the broad heading of "science of life".

There are three worlds—the macrocosm (the world of galaxies, stars and planets), the microcosm (the atomic and subatomic world) and sub-microcosm (the world constructed by human mind-brain system). The principle of Truth and Non-Violence govern all the three worlds, or in other words, as the sub-microcosm so is the microcosm.

A Journey from Violence to Non-Violence : The relative frame of reference is engaged in identification, naming and recording; it is engaged in comparison, imitation, conformity; all activities of the frame add to psychological matter in the brain which implies rupture and opposition to the laws of nature; so all activities of the frame of reference are violence to nature's rhythm and order. The frame reveals to man a dead, passive nature, a nature that behaves as an automation which, once programmed, continues to follow the rules inscribed in the programme. In this sense, the dialogue with nature, or dynamics of this frame isolated man from nature instead of bringing him closer to it.

The absolute rest frame bestows a perception of the fact; every observation leads to decrease of psychological, matter; so this frame works according to the rhythm order, harmony and music in nature; and this frame is called a non-violent frame. A journey from violence to non-violence implies a quantum jump from the relative frame of reference (symbolic-dualistic knowledge) to absolute rest frame (non-dual knowledge) in the mind spectrum. Man has to jettison disorder, disharmony, noise and imbibe order, harmony, music in the within. The absolute rest frame established a dialogue with nature. Man has to discover to sublimate the violence in his own

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

mind to non-violence. He wants to enquire as a human being, how to transcend this violence, how to go beyond it. The secret lies in learning the art of observation of one's own mind. Any time of day or night, he can find time to relax, he withdraws from the field of movement. Every day for some time he sits down quietly in the solitude of his ISNESS retiring from the field of mentation. When the state of observation is sustained, the observation becomes a normal state of consciousness, the observation becomes spontaneous. The state of observation implies non-reactive attentiveness. The thought goes to abeyance and intelligence self-expresses itself. So from activity to non-action, from speech to verbal silence, from movement to non-motion, we become voluntarily silent.

The self-centered activity, the I-consciousness, the ego, is the violence. When thought goes to abeyance, the mind becomes non-violent, it is the activisation of intelligence. The journey from violence to non-violence is the capacity of mind to make quantum jump from ego-centredness to self-transcendence of ego. It is the non-violence of the mind which makes our life orderly and harmonious. The activisation of intelligence bestows on us creativity in every action.

Individual and Society : Society exists for the individual. The individul is dynamic. The society is static, it has no life-giving quality. Any action, any refarm in the external field, without, the inner revolution, becomes equally static, so outer action become srepetitive, habitual. It is only the inward transformation that can transform the society. The action of relationship between you and another, between you and me, is society. The function of society is not to make him conform to any pattern but to give him the feel, the urge of freedom.

The violence in the mind is mechanistic and repetitive. A violent mind cannot transform the society. A non-violent mind transforms the society. For any revolution in society, the human mind must first move from violence to non-violence. "Non-violence of the weak" is an action

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

in the external field so it cannot transform the society. "Non-violence of the brave" is a transformation of the inner mind which expresses itself in the external field, so it transforms the society. To bring out transformation in society, the individual mind must make a quantum jump from violence to non-violence. Non-violence is transcendence of the mind, is love, it is the timelessness. it is to come home.

The invitatiou to mankind, individually and collectively, is to come home, to the timelessness of the Eternity, the Absolute, the present moment. It is as you stay at home here that you become a blessing. There is no one who can become a blessing at either side of the spectrum (past and future). Violence exists in the past and future. Non-violence expresses itself in the present, the timelessnees, the now.

The Healing of Mind-Boby Equipment : The term "wholism" or "holistic" comes from the Greek "holos" meaning entire or whole. The holistic education implies that the mind starts operating at a higher integrative potential, higher sensitivity, higher level of perception so that it heals the sick mind, the conditioned mind; the healing of mind implies jettisoning the nervous tension, the stresses of life, which results in decrease of chemical pressures; this leads one to perfect health and harmony. The holistic education heals the diseased mind and diseased body—this is the key to health care, to wholeness, this is the key to produce an orderly and harmonious human being, a whole person. It awakens the innate intelligence of man.

Health really comes from a word which means to make whole; to make whole means to express wholeness, and that expression of wholeness means an expression of everything you are, so health implies an orderly, harmonious, balanced, rhythmic, dynamic mind-brain equipment. We are involved in a eosmic dance, or a solar dance if you

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

like, where everything including the mind must be healthy.

The natural law of life is non-violence. Nature has achieved physical homeostasis for man; man has now to achieve mental homeostasis for himself, by himself, through the organic capacities which nature has endowed him with. The mental homeostasis means healing the mind-brain equipment, which is a journey from violence to "non-violence of the brave".

Disease is absolutely unnatural. Disease is a function of the way we think, our various life-styles, the tremendous conflict which exists within ourselves as individuals, the violence in the mind. Anxiety or worry is living here in the future. Depression or regret is living in the past. When the internal fragmentation, which is violence, ends, the disease also ends. In non-violence there is no disease, it is perfect health both within and its outer manifestation.

The healing requires an integration of body, mind and spirit, so the healing is a natural by-product. Healing implies the individual, the society, the eco-system, the total healing of the planet. Healing can take place when there is "non-violence of the brave" at the individual level and the non-violence expresses itself in the society, eco-system and environments.

Education for Ahimsa : It is the task of education, at the individual level, to attain self-sufficiency in learning, to attain capacity to self-educate oneself; this implies to understand the art of seeing, the art of hearing, the art of action, the art of meditation, and the art of living Education has a social and national goal, which is freedom from fear, to strengthen the forces of love and peace, to perceive the truth. A complete structure of education, of learning and teaching based on profound revelations by J. Krishnamurti and Vimala Thakar has been worked out. The holistic education bestows a holistic vision of life. The holistic vision implies that action is not governed by thought, and the we call as non-violence of the brave and stout at heart. The holistic education cultivates the concept of *ahimsa*, which bestows on us, love and compassion

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

for mankind and its environments; so pure non-violent mind is fruit. We opine that the secret of perfection of the instrument of non-violence lay in the holistic education, the *sarvodaya*, so we appeal to educationists, media, social workers, the Government to extend a helping hand in trying the collective experiment of holistic education.

We have to undertake a collective experiment on *sarvodaya* (science of life to achieve welfare of all), on holistic education, on dynamic interplay of science and spirituality, to be attentive to the dynamics of the "without" and the "within", simultaneously. The word experiment implies to explore into ourselves like scientist. A mind that is enquiring, that is aware, that observes "what is" in itself, is self-understanding, self-knowing. The exploration into oneself implies seeing and learning the violence, and when seeing is sustained the violence disappears and non-violence simultaneously expresses itself. An understanding of violence, the dynamics of mind, opens the doors to truth.

The substratum of *ahimsa* is the unity of all life, the oneness of all life. The essence is the unfragmentable homogeneous wholeness. This suggests the urgency that man should undertake a collective experiment in holistic education so that we rise collectively in the level of consciousness. Education, at the individual level, aims in transformation of a violent mind to a non-violent mind; education, at the collective level, prepares the nation to protect the country by the power of non-violence of the brave. The holistic education aims at increasing the "level of perception", the "level of sensitivity", so that the new educational edifice has its foundation on non-violence as its means aad truth as the end. This awakens the consciousness of ,'means and ends", which is value-perception. The secret of our survival lies to the extent to which mankind undertakes a collective experiment on holistic education.

To sum up, the present educational structure promotes violence of mind, and as such bound to lead us to a

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

colleetive suicide. Mankind's "salvation lay not through violence but through non-violence". Mankind must adopt the holistic education—*Sarvodaya*, "Science and *Ahimsa*", "Atom and Gandhi"—for its own survival, which in turn can create a new civilization and a new society. □

Reference :

1. Gandhi, M. K., *Harijan*, June 29, 1947 (*Non-Violence in Peace and War*, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1960, Vol. II, p. 257, 258)
2. *Ibid*, *Harijan*, August 31, 1947 (*Non-Violence in Peace and War*, *ibid*., p. 279-80)
3. Krishnamurti, J., *Beyond Violence*, B. I. Publications, Delhi, 1973,
4. Gandhi, M. K., *Harijan*, June 29, 1947.
5. *Ibid*, *Harijan*, August 31, 1947.
6. *Ibid*., Quoted Pyarelal, *Mahatma Gandhi* : *The Last Phase*. Ahmedabad : Navajivan Publishing House, February 1958, Vol. II, p. 791.
7. *Ibid*., *Harijan*, September 26, 1936, p. 260 (Pyarelal II, 791)
8. *Ibid*, *Young India*, December 4, 1924, p. 398 (Pyarelal, II, P. 792)
9. *Ibid*., Quoted Pyarelal, II, 801-09.
10. *Ibid*., Quoted Pyarelal, II, 810.
11. Thoreau, Quoted Canby H. S. (ed.), *The Works of Thoreau*, Boston, 1946, p. 788-89 (Pyarelal, II, 810).
12. Tolstoy, Quoted Pyarelal, II, 810.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

THE PROSPECT OF CONTINUITY OF LIFE AFTER DEATH IN CHĀRVĀK SYSTEM OF PHILOSOPHY

● *Dashrath Singh*

It is rightly said that the Chārvāk is more hated than understood and more sinned than the sinners. The students of Indian philosophy are generally given impression that there is no possibility of life after death in the Chārvāk system of Philosophy for the reason that they criticise the vedic concepts of transcendental realities like heaven, Moksh, soul, dharma and adharma etc. (**ना स्वर्गो ना पवर्गो नैवात्मा पारलौकिकः**) and hold death as the cessation of life (**भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः**). But a deeper study of the system, I believe, will show that the Chārvāk are not against the continuity of life as such even after physical death. What they want to emphasise is that the Vedic concepts mentioned above, are untenable on the grounds of sound reasons. They cannot be proved on the basis of perception which is the valid soure of knowledge in the Chārvāk system of philosophy. The present paper, intends to analyse the real meanings of some of the statements of the chārvāk which appear as rejecting the existence of life after death. It is my contention that the chārvāk certainly reject the vedic notions of transcendental realities, but not the existence of life as such after the event of death of the physical body. There is ample scope for the possibiliiy of re-incarnation of souls. The only condition for admitting this reality is that it should be proved or disproved by perceptual verification. The modern Para-Psychology, which has done a lot in the direction of verifying such para-psychic reality, can find welcome support in the chārvāk system of philosophy.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

We shall start with the statement—'when dead body is burnt to ashes how can it reappear.' The chārvāk argue that life and consciousness are indispensable to body. After death, the body is burnt to ashes, according to the Hindu practice of last rites to dead body. So it ceases to exist, and the question of re-birth does not arise. The cessation of body is the cessation of life. This argument of the chārvāk should be understood strictly in the sense that after death, body does not appear to us in the form as it was before the death. By this argument, the presence of life in another form of the body is not negated. The only negation which applies here, is the negation of present form of body and life which is obvious in life after death. It does not necessarilly follow from it that the death of present life is the cessation of the existence in any form. Ajita, an eminent philosopher, presenting the chārvāk's position says that according to chārvāk, this body is made up of four elements—earth, water, fire and air. When it is dead all the four elements are disintegrated and they are reduced to their greater elements (Mahātatva). Therefore, it may be said that the death of body means the absence of body in its integrated form which is the basis of present consciousness. However, the existence of disintegrated elements of matter can't be challenged and so also the subtle element of consciousness

The law of conservation of matter and energy is the well-founded principle of Science. According to this principle, the matter and energy are transformed, never destroyed. Shantrakshita a commentator on chārvāk philosophy, holds that the power of matter varies according to the condition, space and time (**अवस्था देश कालानां वेदाद्-भिन्नाषुशक्तिषु**). It follows from this that life and consciousness of disintegrated body may be weak, dorment and implicit in comparison to the life and consciousness of organized body. It does not mean that life and consciousness do cease to exist. They exist in the cosmos in subtle form and may reappear in the form of different body and consciousness subject to the relevant conditions for them.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Thus, the extinction of organized body does not prove the extinction of subtle elements and hence, it can't legitimately reject the continuity of existing life principles.

The chārvāk are very much critical of the Nyāya concept of God as creator, sustainer destroyer of the world and also as a custodian of the law of karma (Adrista) which ultimately is the cause of re-birth. The chārvāk argument seems to be correct in the sense that the law of karma and the divine law can't co-exist. If omnipotent and benevolent God is true, the law of karma becomes superflous and also vice-versa. The chārvāk are also correct in holding that worldly human enjoys pleasure and suffer pains due to its own action. It may be argued however, if human's action is the cause of its pleasure and pain—a form of consciousness, how can we deny it as the cause of re-birth-the another form of consciousness? Therefore, it can safely be said that our actions are not only the cause of pleasure and pain but also the cause of our future life.

The other argument of the chārvāk for the negation of re-birth is based on the identical relation between body and soul. For the chārvāk, soul is not a different and independent entity from body rather it is body itself. If body is the soul, the chārvāk argue, it is meaningless to say that the soul goes out from the dead body to another transcendental world. Further, if it is true to say that the soul goes out from the body to another world it should also be true to say that it will come back to this world for the sake of love to the worried relatives and friends. But infact, no souls come back to this earth for consoling the sorry relatives.

It seems to me, that this argument of the chārvāk proves the hollowness of the expressions involved in the concept of transmigration of souls and hence, the criticism is purely linguistic in nature. It is not a substantive criticism. In place of the expression "soul goes out from the body to the transcendental world" if we use the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

expression "dead body is reduced to the subtle elements", they will perhaps, have no objection. In fact it proves that the nature and behaviour of the subtle elements are so mysterious that they can't be explained in a very easy way and legitimately, they can neither be affirmed nor denied but investigated with full seriousness.

The concept of rebirth is closely linked up with the concept of law of karma and the chārvāk system criticises the theory of karma propounded by the orthodox system of Indian philosophy. For the chārvāk, there is nothing like fruits of action (Karm-phal), and the mysterious universal agency called "Adrista", "Daiva", "Fate" and also merits and demerits (Dharma-Adharma) acquired in the prevous life. Here question is—how the diversity of the phenomenal world can be explained ? The followers of Brihaspati explain the diversity with the help of swabhavavād or the principle of spontaneous generation of things according to their respective natures.

It we go deep in to the arguments for the denial of law of karma by the chārvāk, we find that the main ground for its denial is supposed to be grounded on the monistic concept of soul and creator, sustainer and destroyer God. Their arguments are—if according to the vedas only one soul reaps the fruits of actions performed by all human beings, it will make no difference in the lot of the soul if one commits good or bad actions, it will be a drop in the ocean and actually bring no difference.

Explicitly here, the karma has been denied in protest of the one and the supreme soul who is supposed to be the reservoir of all karmas. In stead of the one, if we admit the plurality of souls, denial would not take place and hence, the continuity of life on the basis of karma will not be rejected. The chārvāk indirectly admit the law of karma in the case of bodies and souls, when they hold man's own actions responsible for his pleasure and pain. Refuting transcendental God, they argue that human being suffers due to its own action and not due to God. And

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

If action or karma becomes primary, the acceptance of God becomes meaningless. In such a case, life after death caused by God becomes a myth.

It is worth to be noted here, that the chārvāk system has no objection against the theory that action brings some results either in the form of pleasure or pain. Its objection lies only in the fact that the action of present life can bring any result in the future. But this will go against the well established principle of continuity of time and history. The basic principle of theory of karma is that if there is action, we must have the fruits of action and the action performed in the past and present can not exhaust without reaping its fruits. Even if the "Rita" of the vedas, "Apurva" of the Mimamasakas and the "Adrista" of the Nyaya-vaisesikas are neagated and the existence of the creator God is suspected, continuity of of actions and their fruits can't be doubted. It may be argued here, if the history is continuous, actions and their results are continuous, how can we reject the continuity of life and consciousness ? It seems to me, the motto of the chārvāk behind rejecting karma theory is lhat one must rely on his own effort and bring change in his life in stead of depending upon—the Supernatural reality for improving his lot. This amounts to accept law of karma in a different way and hence, the continuity of life based on the past karma can't properly be rejected.

It is true that the followers of Brihaspati explain the differences of personalities and the origins of the organism with the help of their nature. But this is no explanation. The problem of differences in human personalities remains unsolved. Therefore, continuity of life after death remains an open question in chārvāk system of philosophy.

The chārvāk reject some statements concerning life after death discussed in the vedas on the ground that they are the chatters of cunning and selfish men. They argue—the dead beings remember the events of their previous life; there is continuity of fruits of action after death; the dead soul gets satisfaction in giving food to others at the time

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of last rites—are the chatters of cunning men, for these statements are not supported by sense experience. Therefore, they are untenable.[1] We must give proper attention to two things here : (1) These statements are the chatter of cunning men, hence, they should be rejected, (2) These are not supported by experience. The chārvāk are hundred percent correct in saying that these statements have been made by the vested interests to satisfy their greeds be fooling others. Had these statements been the statements of scientific personalities, they would have not rejected them. To investigate the nature of some entity after death is one thing, and to make Supernatural statements for some benefits is another. Similarly, the chārvāk would have no objection, if they are supported by experience. However, the term 'experience' should not be taken in its wrong sense. In true sense of the term 'experience' means both direct and indirect experiences as well as their interpretations. What science and specially Parapsychology are doing for the study of survival of human personality, are really the interpretation of experiences of others as well as their own experiences in process of the verification of other experiences And hence, as a true empiricist, seems to me, the chārvāk would not reject those statements regarding the transcendental realities which are properly supported by experience. It is true that experience is not the only source of knowledge. There are other sources of knowledge too. But the best way of understanding the chārvāk is to observe them in their own frame work of thought. And the chārvāk spirit of thinking being positivistic, humanitarian and rationalistic, demands the explanation of surviving reality on the bedrock of experience.

Thus, summing up the whole discussion, it may be remarked that the chārvāk are not so anti-thetical to transcendental realities as they are dead against the ortho-

१. "मृतः स्मरति जन्मानि मृते कर्म्मफलोर्मय,
अन्यमुक्तैर्मृतेतृप्तिरित्यर्त्थं धूर्त्तवार्तया ॥"

चार्वाक षष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

dox explanation about them. The apparent negative approaches are hinted at the sound explanation of them. They are against dogmas and superstitions, not against the scientific and logical explanation of the transcendental realities. They are deeply concerned with the be'terment of present life and therefore, they condemn the attitude of escapism and other worldliness. But the condemnation is basically on moral grounds, not on the ground of penetration into the truth of the realities. In chārvāk philosophy metaphysics and ethics, are founded on epistemology and therefore it is obvious that the assertion of survival of human personality and its denial both actually depend upon a sound epistemology. Hence it is an open question and not the closed chapter of the chārvāk philosophy.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

English Section
List of Articles, published in Tulsī Prajñā
Vol. XVIII & Vol. XIX, Year 92-93 & 93-94

Vol. XVIII

1. A Survey of Prākrit and Jaina studies in India and out side by Dr. Bhagchandra Jain No. 2, Page 49-82
2. An Examination of Brahma Sūtra II. 2. 33 by Dr. Ramjee Singh No. 1. Page 31-38
3. Copper Hoard—An unpublished Find from Chithwari, Chomu (Jaipur) by Sri Harphool Singh No 4, Page 141-141
4. Economic Growth verses Environmental quality by Shiv Prakash Panwar No. 2, Page 83-86
5. Environmental Protection Through Ahimsā by Dr. Suresh Jain No. 3, Page 103
6. Essence of life by Dr. Suresh Jain No. 3, Page 104
7. Even impossible can take shape through Non-violence by Dr. P. Solanki No. 1, Page 6-7
8. Gleanings (Articles on Educational Psychology) by R. C. Sharma No. 1, Page 39-41
9. Indological Studies in Germany (Past and Present) by courtesy of Shri H. M. Banthia No. 3, Page 93-103
10. Mathematical operation in the Sthānāṅga Sūtra by Nagendra Kumar Singh No. 3, Page 119-123
11. Raghavabhatta on Māgadhi in the Abhijñāna Shākuntalam by J. R. Bhattacharya No. 4, Page 151-164
12. Road to Success by Acharya Sri Tulsi No 1, Page 7
13. Syādvāda and Principle of Complementarity by Dr. Suresh Jain No. 3, Page 105-109
14. The Awakening of India by Prof. A. Chakravarthy No. 2, Page 90-91
15. The Doors are open to all by Acharya Sri Tulsi No. 1, Page 5
16. (a) The Grammatical Tradition by Dr. P. Solanki No. 3, Page 118

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(b) The Great Pilgrim Acharya Sri Tulsi
by Dr. P. Solanki No. 2, Page 45-47
17. The Holy Acharyas by Dr. P. Solanki
No. 1, Page 8-12
18. The Mahāvīra Era by Dr. P. Solanki
No. 4, Page 1-56
19. The Śabdādvaita concept of Bhartrihari and the Jaina logicians by Dr. N. K. Dash No. 3, Page 111-117
20. Victory ever Sex by J. S. Zaveri & Muni Mahendra Kumar No. 4, Page 145-150
21. Ways to Ease out Stress by Bajranglal Jain
No. 3, Page 110
22-23. Xandrames and Sandracottus No. 1 & 3
by Upendranath Roy Page 13-30 & Page 125-138
24. 200 years of Terapanth by Dr. P. Solanki
No. 2, Page 48
25. **Book Review :**
Prāchīna Ardhamāgadhī kī Khoja Meṇ
(K. R. Chandra) by Dr. G. V. Tagare
No. 2, Page 87-89

Vol. XIX

1. Balanced interaction between science and spirituality for a better world by C. L. Talesara
No. 1, Page 67-72
2 Beyond Physics & Metaphysics—the Emerging cosmological Threshold by Swami Om Poorna Swatantra
No. 1, Page 40-43
3. Cultural Relations of India with Tibet and China by Narendra Kumar Dash No. 3, Page, 163-172
4. How to write self-study Material in Distance Education by R. K. Mithal No. 2, Page 149-154
5. Integrating the outer and the inner space : A Challenge to science and religion alike by R. P. Misra
No. 1, Page 44-54
6. Laboratory counselling in distance education by R. K. Mithal No. 4, Page 185-188
7. List of Articles, Published in Tulsī Prajñā Vol. XVIII & XIX by P. Solanki No. 4, Page 225-228
8. Modern Physics and Spirituality by Sampooran Singh
No. 2, Page 113-129

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

9. Non-violent model of economic development by Shiv Prakash Panwar No. 3, Page 173-178
10. Non-violence of the brave & Non-violence of the weak by Sampooran Singh No. 4, Page 203-216
11. Recommendations of Seminar by Dashrath Singh No. 1, Page 100-102
12. Relationship of Humans and animals on Brotherhood Basis by Dr. Suresh Chandra Jain No. 2, Page 131-148
13. Social, Moral and Ethical values as Precursor to Humanism/Divinism/Spiritualism by K. L. Madhok No. 1, Page 55-66
14. Science and Spirituality : Dimensions by Sampooran Singh No. 1, Page 1-15
15. Science and Spirituality by Ramjee Singh No. 1, Page 73-87
16. Science and Spirituality by Dashrath Singh No. 1, Page 88-99
17. The Prospect of continuity of life After Death in Chārvāk System of Philosophy by Dashrath Singh No. 4, Page 217-224
18. The Universe of Morphic Responance & Cosmic Liberation by S. D. Devasia No. 1, Page 16-39
19. The Solution of World Problems from Jaina Perspective by Sagarmal Jain No. 4, Page 189-202
20. Yuvāchārya Mahāprajña on Social Sciences of Non-violence by Dashrath Siagh No. 2, Page 103-112

Book Review

1. Concept of pratikraman (Nagin J. Shah & Madhu Sen) by Dashrath Singh No. 3, Page 179
2. Saṭṭaka Literature : A Study (Dr. Chandramauli S. Naikar) by Parmeshwar Solanki No. 3, Page 180-181
3. Saman Suttam (Justice T. K. Tokol & Dr. K. K. Dixit) by Dashrath Singh No. 2, Page 155-158
4. Śrāvkācāra (Dr. B. K. Khadabadi) by Permeshwar Solanki No. 2, Page 159-160
5. Iridoṣa (Vaidya Sohanlal Dādhich) by Parmeshwar Solanki No. 3, Page 181-182

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फार्म-४

(नियम ८ देखिए)

१. तुलसी प्रज्ञा

२. त्रैमासिक

३-४-५. डॉ० परमेश्वर सोलंकी
भारतीय
जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं-३४१३०६

६. जैन विश्व भारती संस्थान, मान्य विश्वविद्यालय, तुलसी ग्राम, लाडनूं-३४१३०६

७. मैं परमेश्वर सोलंकी एतद् द्वारा घोषणा करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

दिनांक २८ फरवरी, १९९४

परमेश्वर सोलंकी
प्रकाशक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Registration Nos.

Postal Department : NUR-(
Registrar of News Papers
India : R.N.—28340/75

Vol. XIX Number Four Jan.-March, 1

Annual Rs. 60/- Life Member Rs. 600/- Per copy 2

Published by **Dr. Parmeshwar Solanki** for J V.B I. Ladnun-341
and Printed by **Jain Vishva-Bharati Press,** Ladnun-341306 (Raj.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org